प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक 'जैनमित्र' व मालिक दि० जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला,
तासवालाकी पोल-सूरत।

# भूमिका ।

श्री जिनेन्द्रके चरणकमलके प्रतापसे इस पंचास्तिकाय ग्रंथकी संस्कृत वृत्ति जयसेनाचार्यकी देशभाषाकी पूर्णता इस ग्रन्थमें होगई है क्योंकि इस द्वितीय भागमें मुख्यतासे नव पदार्थोंका स्वरूप है। इसलिये इसका नाम नवपदार्थदर्पण रक्खा गया है। जो आत्मिक आनन्दके खोजी हैं व शांतिके उपासक हैं उन्हें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य परमयोगीके सर्व ही ग्रन्थोंको पुनः पुनः पढ़ना चाहिये और मनन करना चाहिये। यह आचार्य विक्रम संवत् ४९में होगए हैं। मैसूरके शिलालेखोंसे प्रगट है कि इनमें आकाशमें चलनेकी शक्ति थी। इनके वचन परम अनुपम तत्त्वज्ञानरूपी अमृतको पिलानेवाले हैं।

हम अपनेको बहुत कृतार्थ मानते हैं जो हमारे द्वारा परम अनुभवी आचार्यश्री कृत नीचे लिखे चार ग्रन्थोंकी संस्कृत वृत्तिकी देशभाषा होगई है जिनकी भाषा अबतक नहीं हुई थी—

१–श्री नियमसार, संस्कृत वृत्ति पद्मप्रभमलधारी कृत
२–श्री समयसार „ जयसेनाचार्य „
३–श्री प्रवचनसार „ „ „
भाषा तीन भागोंमें ज्ञान, ज्ञेय तथा चारित्रतत्त्वदीपिका।
४–श्री पंचास्तिकाय दो भागोंमें–पंचास्तिकायदर्पण व नवपदार्थदर्पण।

जिनको सच्चे सनातन शुद्ध जैनमतका स्वरूप समझना हो उनको उचित है कि वे इन सब भाषा टीकाओंको बहुत ध्यानपूर्वक मनन कर जावें। द्रव्यानुयोग रूप आगमके सारको दिखानेके लिये ये ग्रन्थ दर्पणके समान हैं।

जैन मतका सार आत्मानुभव प्राप्त करके सुखशांतिका लाभ करना है। जैनदर्शनका चारित्र व तप सर्व आनन्दवर्द्धक है। गृही तथा त्यागी दोनों ही अपने अवकाश व ज्ञानके अनुसार इसका पालन कर सके हैं। हरएक मानव चाहे जिस वर्ण व देशका हो इस जैनमतको धारण कर आत्मकल्याण कर सक्ता है। यह आत्माकी उन्नतिका विज्ञान है। Jainism is a Science of Soul advancement आशा है पाठकगण—इन ग्रंथोंसे लाभ उठाएंगे तथा यदि कहीं त्रुटि हो तो क्षमाभाव रखकर सूचना देंगे और तत्वकी निर्मलताके लिये धन्यवादके पात्र होंगे।

खंडवा
ता० १७–१०–२७ } ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

---

### धन्यवाद।

लखनऊनिवासी श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजी साहब सुपुत्र लाला विशेश्वरनाथजी अतीव धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने अपने पिताजीके स्मरणार्थ इस महान ग्रन्थका उद्धार करवाके "जैनमित्र" के २८ वें वर्षके ग्राहकोंको उपहारमें देनेका उत्तम व अनुकरणीय ज्ञान दान किया है। प्रकाशक।

# विषय सूची ।

# संक्षिप्त जीवनचरित्र—

# श्रीमान् स्वर्गीय लाला विशेश्वरनाथजी जैन रईस—लखनऊ।

श्रीमान् लाला विशेश्वरनाथजी लखनऊमें एक धर्मात्मा प्रतिष्ठित व्यक्ति थे।

आपका जन्म विक्रम सं० १९१६में हुआ था। आपके पिता लाला भरोंप्रसादजी मित्तलगोत्र अग्रवाल दि० जैन अच्छी स्थितिके गृहस्थ थे। ला० भैंरोंप्रसादजीके ४ पुत्र और २ पुत्री थीं सबसे बड़े पुत्र ला० लछ्मीमलजी, उनसे छोटे ला० बेलीमलजी, उनसे छोटे ला० प्रभुदयालजी व सबसे छोटे आप लाला विशेश्वरनाथजी थे।

आपके बड़े भाई ला०लछ्मीमलजी लखनऊके नवाब वाजिद-अलीशाहके यहां (कलकत्ता) मटिया बुरजमें सामान देते थे। जिस वक्तसे नवाब साहब लखनऊ छोड़कर मटियाबुरजमें रहने लगे थे, तबसे उनको भी अपनी दूकान वहां ले जानी पड़ी। लाला बेली-मलजी, ला० प्रभुदयालजी और ला० विशेश्वरनाथ चिकन तथा बजाजीका काम अलग२ करते थे। आप आजमगढ़से गुलबदनके जरी थान वगैरा लाकर लखनऊमें बेचते थे। लखऊनसे कपड़ेपर चिकनका काम बनवाकर कलकत्ता वगैरहमें बेचते थे। आप बाल अवस्थासे ही बहुत उद्योगी थे। आपकी धर्मकी तरफ भी विशेष रुचि थी। आपके बड़े भाई लाला लछ्मीमलजीके २ पुत्र और २ पुत्रियां थीं। बड़े पुत्र श्रीमान् स्वर्गीय लाला दामोदरदासजी थे जिनका

श्री० स्व० लाला विशेश्वरनाथजी जैन रईस—लखनऊ।

जन्म—सं० १९१६ स्वर्गवास—सं० १९८३

... Press Surat.

श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजी जैन,
सुपुत्र, श्री० लाला विशेश्वरनाथजी–लखनऊ।

*Jain Vijaya Press, Surat.*

जीवनचरित्र श्री इष्टोपदेश टीकाके साथ श्री वीरनि० सम्वत् २४४९में प्रगट किया जाचुका है। इष्टोपदेश टीका ग्रन्थ श्रीमान् लाला बरातीलालजीने अपने पिता लाला दामोदरदासजीके स्मरणार्थ जैनमित्रके ग्राहकोंको २३वें वर्षके उपहारमें भेट किया था। लाला बरातीलालजी भी अपने पिताके समान धर्म व जातिकी सेवामें तत्पर रहते हैं। शहरके रईसोंमें लाला बरातीलालजीका अच्छा नाम है। लखनऊकी जनतासे लाला बरातीलालजीका बहुत स्नेह है तथा आप लखनऊ ट्रेड्सकारपोरेशन तथा श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी व श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैनपरिषद्की प्रबन्धकारिणी कमेटि-योंके मेम्बर भी हैं।

लाला लछ्मीमलजीके द्वितीय लघुपुत्र श्रीमान् लाला दुर्गाप्रशादजी मोजूद हैं और लाला दुर्गाप्रशादजीके सुपुत्र लाला सिताबचंद व चिरंजीव संतोषचन्द व एक पुत्री है। लाला बरातीलालजीके एक सुपुत्र चिरंजीव इन्द्रचन्द्र व २ पुत्रियां हैं। लाला सिताबचन्दजीके भी एक पुत्री है।

लाला बेलीमलजीके पुत्र कोई नहीं था, २ पुत्रियां थीं। लाला प्रभुदयालजीके एक सुपुत्र लाला सुमेरचन्द व १ पुत्री है। लाला प्रभूदयालजी बहुत धर्मात्मा व परोपकारी थे। आपने एक धर्मशाला बहुत उत्तम श्री जैन मंदिरजी यहियागंजके सामने लखनऊमें बनवाई है। आपकी एक दूकान कलकत्तामें लाला प्रभूदयाल कुन्दनलालके नामसे व २ दूकानें लखनऊमें लाला प्रभूदयाल सुमेरचन्द व सुमेरचन्द राधेश्यामके नामसे हैं। लाला विशेश्वरनाथजीके एक सुपुत्र श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजी हैं और २ पुत्रियां हैं।

लाला जिनेश्वरदासजीने ही इस ग्रन्थ पंचास्तिकाय टीकाको अपने पूज्य पिता स्वर्गीय लाला विशेश्वरनाथजीकी स्मृतिमें जैनमित्रके ग्राहकोंको भेट किया है। लाला जिनेश्वरदासजीके २ सुपुत्र चिरंजीव मोतीचन्द्र व ताराचन्द्र हैं और २ पुत्रियां हैं। लाला विशेश्वरनाथजी व लाला दामोदरदासजी व लाला दुर्गाप्रशादजीका सब कारोबार एकहीमें बहुत वर्षोंसे चल रहा है।

जिस वक्त लखनऊके नवाब वाजिदअली साहबका स्वर्गवास होगया था उस वक्त आपके बड़े भाई लाला लछीमलजीको बहुत नुकसान उठाना पड़ा था। लाला लछीमलजी दूकान उठाकर लखनऊ आनेकी तय्यारी कररहे थे। इत्तिफाकसे लाला विशेश्वरनाथजी चिकनका माल बेचने कलकत्ता पहुंच गये। आपने वहांकी हालत देखकर अपने बड़े भाई लाला लल्लीमलजीसे कहा कि आप लखनऊ न जाइये। यहां कलकत्तामें ही चिकनके मालकी दूकानकर लीजिये। हम आप यहां रहेंगे और लड़के लखनऊसे चिकनका माल बनवाकर भेजा करेंगे। ला० लल्लीमलजीने आपकी बात मान ली। आपको कलकत्तेमें ही छोड़ा और आप लखनऊ चले आए और अपने बड़े पुत्र श्रीमान् ला० दामोदरदासजीसे कहा कि अब तुमको पढ़ना छोड़ना होगा और यहां अपने दोनों भाइयोंके नामसे दूकान करनी होगी। हम कलकत्तेमें दूकान करेंगे तुम यहांसे माल बनवाकर भेजा करना। ला० दामोदरदासजीने अपने पिताकी आज्ञा मानकर पढ़ना छोड़ दिया और लखनऊमें दामोदरदास दुरगाप्रसादके नामसे दूकान खोल दी। ला० लल्लीमलजीने कलकत्ते जाकर तुलापट्टी बाजारमें एक दूकान किराये पर लेकर विशेश्वरनाथ दामो-

दरदासके नामसे दूकान खोल दी। आपकी कलकत्तेवाली दूकान व लखनऊवाली दूकानने खूब तरक्की की। लखनऊकी दूकानसे चिकनका माल कलकत्तेकी दूकानके अलावा और भी बहुत दूर२ बड़े२ शहरों ( बंबई, अहमदाबाद, दिल्ली आदि स्थानों )में जाने लगा। आपके भतीजे लाला दामोदरदासजी बहुत बुद्धिमान व परोपकारी थे। लखनऊ जैन सभाके मंत्रित्वका कार्य २३ वर्षतक लाला दामोदरदासजीने बहुत उत्तम रीतिसे किया था। लखनऊमें जो कुछ धर्मकी रौनक है वह लाला दामोदरदासजीके ही गाढ़ प्रयत्नका फल है। लाला दामोदरदासजी कचहरीके कार्योंमें भी बड़े चतुर थे, वकीलोंको भी आपकी सम्मतिसे लाभ पहुंचता था। श्वेतांबर जैन समाजके साथ जो श्री सम्मेदशिखरजी पूजाका मुकद्दमा चला था उसमें लाला दामोदरदासजीकी प्रामाणिक गवाहीका हाईकोर्टके जजोंपर भी असर पड़ा था। आप धर्मके कामोंमें हरतरहसे मुस्तैद रहते थे। ला० दामोदरदासजीने ही ला० जिनेश्वरदासजीको व्यापरका कार्य सिखाकर बहुत होशियार कर दिया था। ला०विशेश्वरनाथजीने ३ मरतबा श्री सम्मेदशिखरजीकी यात्रा की थी, और भी बहुतसे तीर्थोंकी आप यात्रा कर चुके थे। आपने अपनी १० वर्षकी उमरसे ही रात्रिमें पान पानी वगैरह कुल चीजोंका त्याग कर दिया था। आप हर अष्टमी, चतुर्दशीको एकाशना करते थे। आपने अपनी कोठी छापाबाजारमें एक मनोज्ञ चैत्यालय श्री चन्द्रप्रभु भगवानका बनवाया था उसमें रोजाना आप पूजन करते थे। आपको डाक्टरी दवाईका भी जन्मपर्यन्त त्याग था। बाजारकी कुल मिठाई व पूरी वगैरहका भी आपको त्याग था। इसके अलावा

घरमें भी हलवाईके हाथकी बनाई हुई पूरी मिठाई वगैरहको भी आप नहीं लेते थे। एक मरतबा आप कुटुम्ब सहित श्री सम्मेद-शिखरजीकी यात्रा करके रास्तेके दर्शन करते हुये श्री गिरनारजी जारहे थे। श्री मुक्तागिरी क्षेत्र जाते समय अमरावतीमें आपको बहुत जोरसे प्लेगका रोग होगया मगर आपने उसकी कुछ परवाह न की और मुक्तागिरी पहुंच गये। वहां आपकी तबियत ज्यादा खराब हो गई तब आपके कुटुम्बी आपको लखनऊ वापिस लेआये। लखनऊमें आप वैद्यका इलाज कर रहे थे उस वक्त आपको बुखारकी तेजीके सबबसे रात्रिमें पानी न पीनेके कारण बहुत कष्ट होता था उस वक्त भी आप धर्ममें ऐसे दृढ़ थे कि आपने अपने भतीजे लाला दामोदरदासजीको बुलाकर कहा कि तुम समझदार हो इस वास्ते तुमसे कहता हूं कि मेरी हालत रात्रिमें चाहें जैसी खराब होजावे, और मैं शायद बेहोशमें पानी मांगने भी लगूं मगर कोई आदमी बून्द भी पानीकी न देने पावे।

आप अपने शुभ कर्मके उदयसे शीघ्र ही इस रोगसे अच्छे होगये। विक्रम संवत् १९७३में जब आपके भतीजे श्री० ला० दामोदरदासजीका ९० वर्षकी अवस्थामें श्वास रोगसे स्वर्गवास हो गया तब आपको बहुत दुःख हुवा मगर आपने संसारकी अनित्यता जानकर सन्तोष किया।

आपने यहियागंज टाटपट्टीमें एक विशाल धर्मशाला अपने फर्मकी तरफसे विशेश्वरनाथ, दामोदरदास, दुरगाप्रसादके नामसे बन-वाई है जिसमें करीब ९०० आदमी एक वक्त ठहर सकते हैं।

विक्रम सं० १९८१में आपकी धर्मपत्नीका स्वर्गवास होगया।

आपने उस वक्त भी धैर्य रक्खा। आपके पुत्र लाला जिनेश्वरदास-जीको अपनी माताके स्वर्गवास होजानेसे बहुत दुक्ख हुआ मगर आप उनको भी हरवक्त यही कहकर सम्बोधते थे कि उसका वक्त बहुत अच्छा था, वह बड़ी भाग्यवान थी जो मेरे सामने स्वर्गको चली गई। अब मेरी जिन्दगीका भी कोई भरोसा नहीं, २-३ वर्ष और जीऊंगा। तुम होशियार हो और संसारकी अवस्था जानते हो, किसीके मा बाप हमेशा बैठे नहीं रहते हैं। इसके करीब १ साल बाद वि० संवत् १९८२में आप पर एकाएकी फालिस गिर पड़ा जिसकी वजहसे करीब १० महीने आप बीमार रहे बहुतसे वैद्य हकीमोंका इलाज किया गया, कोई फायदा नहीं हुआ। मिती भादों सुदी १२ संवत् १९८३को ६७ वर्षकी अवस्थामें आपका स्वर्गवास होगया। बीमारीकी हालतमें आपके परिणाम बहुत निर्मल रहे। रोजाना करीब ४ व ५ घंटे आप धर्मचर्चा सुनते थे और अपने कुटुंबीजनोंको रोजाना सम्बोधते थे कि तुम लोग फिकर किस बातकी करते हो? संसारमें जो आया है वह एकदिन जरूर जायगा, मेरा वक्त तो बहुत अच्छा है। मैं गृहस्थके सब सुखोंका अनुभव थोड़ा२ कर चुका। मेरे मनमें अब किसी बातकी अभिलाषा बाकी नहीं रही है। बीमारीकी हालतमें एक दिन करीब २ बजे दिनको आप यह समझे कि अब रात होगई। आपने कहा मैं अब पानी नहीं पीऊंगा। आपके सुपुत्र ला० जिनेश्वरदासजीने व और सबने आपको बहुत समझाया कि अभी बहुत दिन है रात नहीं है आप पानी पी लीजिये, दवा खा लीजिये, हम लोग आपसे झूठ नहीं कहेंगे। आपने किसीकी बातकी प्रतीति नहीं की और सबसे यही

कहा कि तुम लोग मोहके वश होकर मेरी प्रतिज्ञा भंग कराना चाहते हो, मैं किसीकी बात नहीं मानूंगा। जब आप किसी तरह नहीं माने तब ला० बरातीलालजी, अजिताश्रमसे अपने मामा श्रीमान् जैन ध० भू० ध० दि० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको ले आये (उस साल ब्रह्मचारीजीने लखनऊमें चातुर्मास किया था) ब्र०जीके समझानेसे बहुत मुश्किलसे आपने दवाई व पानी ग्रहण किया था। आपके परिणाम अन्त समय तक बहुत उत्तम रहे। आपने अपने कुटुम्बीजनोंसे स्वर्गवास होनेके चार पांच महीने पहलेहीसे ममत्व त्याग दिया था।

अब हम पाठकोंको कुछ आपके सुपुत्र श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजीका परिचय करा देना उचित समझते हैं। श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजी योग्य हैं, आप कलकत्तावाली दूकानके अलावा लखनऊमें भी ५ दूकानें जो निम्न नामसे हैं उन सबका काम सम्हालनेमें योग देते हैं।

दामोदरदास दुर्गाप्रसाद, अहियागंज।

दामोदरदास जिनेश्वरदास, कोठीकपड़ा छापाबाजार।

जिनेश्वरदास गोटेवाले, विक्टुरियास्ट्रीट।

बरातीलाल जैन एण्ड कंपनी, अहियागंज।

बरातीलाल जैन कोठी बरतन, अमीनाबाद।

दूकानोंके अलावा लखनऊमें बहुतसी दूकानें व मकानात किरायेपर चलते हैं उनका भी प्रबंध रखते हैं। संवत १९८३ माघमासमें लखनऊमें श्री भा० व० दि० जैन परिषदके अधिवेश-

नके अवसरपर श्री जैनधर्मप्रवर्धिनी सभा लखनऊके वार्षिक उत्सवपर आप सभापति एक सालके वास्ते चुने गये हैं। वैशाख मासमें आपने अपने सुपुत्र चिरंजीव मोतीचंदका विवाह जैनविधिसे बहुत धूमधामके साथ श्रीमान् लाला मुन्नेलाल कागजीकी सुपुत्रीके साथ किया था। धर्मकी तरफ भी आपकी विशेष रुचि है। आप अपनी कोठीके चैत्यालयमें रोजाना पूजन करते हैं। हम श्रीजीसे प्रार्थना करते हैं कि आप चिरायु होकर हमेशा धर्म व जातिकी सेवा करते रहें। आपने अपने पिता लाला विशेश्वरनाथजीकी स्मृतिमें इस पंचास्तिकाय टीकाके द्वितीयभाग-नवपदार्थदर्पणको प्रकाशित कराकर ज्ञानदानका महाप्रशंसनीय कार्य किया है।

यह ग्रन्थ जैनमित्रके उन सब ग्राहकोंको भेटमें दिया जाता है जो वी० सं० २४५३में जैनमित्रके ग्राहक थे। आशा है अन्य श्रीमान् भी ऐसे अपूर्व ज्ञानदानका अनुकरण करेंगे।

सूरत<br>
वीर सं० २४५३ कार्तिक व. ११<br>
ता० २१-१०-२७

निवेदक—<br>
मूलचन्द किशनदास कापड़िया<br>
प्रकाशक।

# शुद्धयशुद्धि ।

| पृ० | ला० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १३ | ६ | जानंदो | आनंदो |
| १५ | २ | जल जाना | झड़ जाना |
| १६ | १४ | योग्य शक्ति | योग्य योगशक्ति |
| ३१ | ५ | वायु, रूप, | वायु रूप |
| ४० | ४ | एंडितम् | पंडितम् |
| ४१ | ९ | और नो इंद्रिय | और कर्णेन्द्रिय तथा नोइंद्रिय |
| ४५ | १२ | मन सहित तिर्यच | मन सहित |
| ४८ | ९ | व गतिके उदयसे किसी गतिमें बंधा रहना होता है | |
| ५१ | १८ | पालन | पल्टन |
| ५२ | १६ | कोटिसर्त | कोटिशत |
| ,, | २१ | सिद | सिद्ध |
| ५६ | २३ | वाउस्स | काउस्स |
| ६१ | ७ | स्थितिको | स्थितिके |
| ६५ | १३ | तथा कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले शरीरके स्वामी हैं | |
| ७४ | ७ | आवस्थाएं | अवस्थाएं |
| ७५ | ५ | अनुभव | अनुभय |
| ,, | ७ | अहारक | आहारक |
| ७७ | ३ | पाई जाती हैं- | पाई जाती है तथा असैनी पंचेंद्रियके पीतलेश्या भी होती है |
| ७९ | १३ | नौकशाय | नौ नोकषाय |
| ८३ | १४ | इस | इन |
| ९० | १२ | १३४ | १३५ |
| ,, | १४ | १३४ | १३५ |

| पृ० | ला० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ९२ | ४ | दान | ज्ञान |
| ,, | ६ | जैसे | वैसे |
| १०६ | २१ | अशुभ | अशुद्ध |
| १०७ | १ | पदार्थ | पाप |
| ,, | ९ | रूप | रूप भावको |
| १०८ | १४ | क्षय | रूप |
| १११ | १ | तो | सो |
| ११४ | १ | अमूर्तीक | मूर्तीक |
| ११७ | २१ | कि निश्चय | कि जीव निश्चय |
| १२० | १३ | ऐसी | ऐसा |
| १२३ | २० | लाभ | लोभ |
| १२६ | १४ | आरधना | आराधना |
| १३१ | ६ | देह | देव |
| १३३ | २४ | यापा वादः | पापवादः |
| १३५ | २० | वास्तव | वास्तव |
| १३७ | १ | राग विनाश | रोग विनाश |
| १४१ | ७ | णमं | णमं |
| ,, | ८ | पुव्वे | पुव्वं |
| १४३ | २४ | मुझ | मज्झं |
| १५४ | २३ | पालं | पाली |
| १५६ | १० | यत्वं | यत्वं |
| १६३ | १८ | है ही | है ही |
| १६४ | १२ | पदेस | पदेस |
| १६५ | १२ | लाभ | लोभ |
| १७० | १२ | समुया... | समुपात्त त्रित्त्वमप्येकतायाः |
| १७० | १४ | मनुमवायो | मनुमवान्यो |
| १७५ | २ | मुग्ग | मुग्ग |

| पृ० | ला० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १८५ | १ | नन्यभयः | नन्यमयं |
| ,, | ७ | आणंदिंयं | आणिंदियं |
| १८६ | ३ | परभवों | परभावों |
| १८७ | २१ | कार्यों | कर्मों |
| १९२ | ७ | परम | परमें |
| १९६ | १२ | आत्माकी | आत्माको |
| १९७ | १५ | अतींन्द्रिय | अतींन्द्रिय सुख |
| २०७ | ६ | तथापि भेदनय | तथापि अभेदनय |
| ,, | १७ | वग | वगम |
| २०८ | २३ | विपर्योंसे | वि,योंकि |
| २०९ | २० | गग | रोग |
| २१२ | १६ | शुद्ध रूप | शुभ रूप |
| २१३ | २ | सुद्ध | सुख |
| २१७ | २० | भक्ति | मुक्ति |
| २१८ | १४ | धारिदुं | धारिदुं |
| २२० | ९ | नाश कर | नाश करे |
| २२१ | ७ | शुभोपयोग | शुद्धोपयोग |
| २२४ | १९ | परिग्रह | परीसह |
| २२९ | १० | शुभ चारित्र | शुद्ध चारित्र |
| २३७ | २ | अन्य | अन्य |
| २४४ | १७ | अतसर | अवसर |
| २४५ | ६ | सुहान | सुहात |

॥ ॐ ॥

श्रीमत् कुन्दकुन्दस्वामी विरचित—

# श्री पंचास्तिकाय टीका

## द्वितीय खण्ड।

अर्थात्

## श्री नवपदार्थदर्पण।

### मंगलाचरण।

श्रीजिनेन्द्र चौवीसको, वारवार सिर नाय।
परमातमसिद्धानको भज, सुमरूं उमगाय ॥ १ ॥
आचारज उवझाय गुरु, चरणकमलको ध्याय।
संशय विभ्रम मोहको, हरूं ज्ञानगुण पाय ॥ २ ॥
कुंदकुंद मुनिराजको, परमतपस्वी जान।
कर्त्ता कायपंचास्तिके, वंदू धर उर मान ॥ ३ ॥
अध्यातमके भावको, झलकायो सुखकार।
जो जाने माने सुधी, अनुभव पावे सार ॥ ४ ॥
जयसेनाचारज नमूं, वृत्तिकार गुणवान।
जिनकी छाया लेयकर, हिन्दी लिखूं प्रमाण ॥५॥

आगे नव पदार्थाधिकारकी व्याख्या लिखी जाती है—

पीठिका सूचनिका—पहले जो कथन द्रव्य स्वरूपका होचुका है उसके आगे "अभिवंदिऊण सिरसा" इस गाथाको आदि लेकर

पाठ क्रमसे पचास गाथा तक या (अमृतचंद्र कृत) टीकाके अभिप्रायसे अड़तालीस गाथा तक जीवादि नव पदार्थोंको बतानेवाला दूसरा महा अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। इसके भीतर भी दश अंतर अधिकार हैं। उन दश अधिकारोंके भीतर पहले ही नमस्कारकी गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे चार गाथा तक व्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यतासे आचार्य व्याख्यान करते हैं। इसतरह प्रथम अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका-अब श्री कुंदकुन्दाचार्य अंतिम चौवीसवें तीर्थंकर परमदेवको नमस्कार करके पंचास्तिकाय और छः द्रव्य संबंधी जो नव पदार्थोंका भेदरूप मोक्षमार्ग है उसको कहूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं।

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥११२॥

अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरम्।
तेषां पदार्थभङ्गं मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अपुणब्भवकारणं) जिस पदके पानेसे फिर जन्म न लेना पड़े ऐसे मोक्षके लिये जो निमित्त कारण हैं ऐसे (महावीरं) श्रीमहावीर भगवानको (सिरसा) मस्तक झुकाकर (अभिवंदिऊण) नमस्कार करके (तेसिं) उन पहले कहे गए पांच अस्तिकाय और छः द्रव्यके (पयत्थभंगं) नव पदार्थमई भेदको (मोक्खस मग्गं) जो मोक्षका मार्ग बताता है (वोच्छामि) आगे कहूंगा।

विशेषार्थ-इस गाथामें पहली आधी गाथासे ग्रंथकारने मंगलके लिये अपने इष्टदेवताको नमस्कार किया है। इससे यह भी

सूचित किया है कि श्री महावीरस्वामीका कथन प्रमाण है क्योंकि उन्होंने इस रत्नत्रय मई प्रवृत्तिमें आए हुए महा धर्मरूपी तीर्थका उपदेश किया था इसलिये वे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी मोक्ष-सुख रूपी अमृतरसके प्यासे भव्य जीवोंके लिये, परम्परासे अनंत ज्ञान आदि गुणोंकी प्राप्तिरूप मोक्षके लिये सहकारी कारण हैं। इसके पीछे आधी गाथासे ग्रंथकर्ताने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं नव पदार्थोंका वर्णन करूंगा जो व्यवहार मोक्षमार्गके अंग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषय हैं। यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका परम्परासे कारण है। जहां शुद्ध आत्माकी रुचि, प्रतीति व निश्चल अनुभूति होती है उसे अभेद रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। इस ग्रन्थमें यद्यपि आगे चूलिकामें मोक्षमार्गका विशेष व्याख्यान है तथापि नव पदार्थोंका संक्षेप कथन बतानेके लिये यहां भी कहा है क्योंकि ये नव पदार्थ व्यवहार मोक्षमार्गके विषय हैं, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस अवसर्पिणीकालमें वर्तनेवाले चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान हो गए हैं जिन्होंने मोक्षमार्गका व्याख्यान किया था। वही मोक्षमार्ग बराबर चला आ रहा है, इसीके साधनसे अनेक भव्यजीव महात्मा आत्मीक स्वाधीन आनन्दका लाभ करते हुए कर्म-मैलसे आत्माको पवित्र करते हैं तथा इसीके साधनसे मैं भी अपनी आत्मोन्नति कर रहा हूं। इस प्रकार परम उपकारको विचारकर ग्रंथकर्ता श्री कुन्दकुन्द महाराजने मंगलाचरणके लिये श्री महावीरस्वामीको नमस्कार किया है। इससे यह भी झलकाया है कि मैं जो कुछ कहूंगा वह उनके हीके उप-

देशके अनुसार कहूंगा, अपनी कल्पनासे कुछ न कहूंगा क्योंकि वे भगवान सर्वज्ञ वीतराग थे इससे उनका वचन सर्व भव्य जीवोंके लिये माननेयोग्य प्रमाणभूत है।

यद्यपि मोक्षकी प्राप्ति अपने ही पुरुषार्थसे होती है—अपने ही आत्माके श्रद्धा सहित ज्ञान और ध्यानसे होती है तथापि जिनके उपदेशसे यह मन संसारके मार्गसे मुख मोड़ मोक्षमार्गकी ओर चलने लगता है वह अवश्य मोक्ष—प्राप्तिके लिये सहकारी निमित्त कारण हो जाते हैं। मार्गको भूले हुए प्राणीको यदि कोई मार्ग बता देवे तो वह बड़ा भारी उपकारी है इसीतरह श्रीमहावीरस्वामी मोक्षके लाभमें परमोपकारी सहकारी हैं। इसीलिये उनके परम उपकारको स्मरणकर उन्हें आचार्यने मस्तक झुकाकर नमस्कार किया है और यह प्रतिज्ञा की है कि मैं भी उसी मोक्षके मार्गको कहूंगा जो श्री महावीर भगवानने कहा था। इस मोक्षमार्गका ज्ञान और श्रद्धान नव पदार्थोंके कथनसे होता है क्योंकि जीव और अजीवसे तो यह बोध होता है कि मैं जीव हूं, मेरे साथ जो कार्मण, तैजस और औदारिक शरीर हैं वे सब अजीव पुद्गल द्रव्यसे रचे हुए मेरे जीवके स्वभावसे बिलकुल भिन्न हैं। पुण्य और पाप पदार्थोंके वर्णनसे यह मालूम होता है कि संसारमें साताकारी व अनुकूल अवस्थाका कारण पुण्य है और असाताकारी प्रतिकूल अवस्थाका कारण पाप है—पुण्य पापके फलसे ही संसारी जीव अपनेको सुखी और दुःखी मान लिया करते हैं। फिर इन पुण्य और पाप कर्मोंके आत्माके निकट बंधके लिये सन्मुख होनेको आश्रव और आत्माके प्रदेशोंके साथ मिल जानेको बंध कहते हैं।

इन आश्रव और बंध पदार्थोंसे संसारी जीव कैसे अशुद्ध हुआ करता है यह झलकाया है। आगे संवर पदार्थसे बंधके रोकनेकी विधि बताई है। निर्जरा पदार्थसे उन कर्मोंको उनके उदयकालके पूर्व आत्मासे धीरे २ छुड़ानेका उपाय समझाया है और मोक्ष पदार्थसे कर्म बंधसे छुटी हुई आत्माकी पवित्र अवस्थाका ज्ञान कराया है। इसतरह इन नव पदार्थोंका ज्ञान और श्रद्धान होना मोक्षमार्गमें अतिशय आवश्यक है। विना इनको जाने बंधके कारणोंसे बचना और निर्जरा व संवरके कारणोंमें प्रवर्तना नहीं होसक्ता है इसलिये ये नवपदार्थ मोक्षमार्गके विषय होनेसे मोक्षमार्ग कहा जा सक्ता है। आचार्य महाराजने इस गाथामें यह भी बताया है कि ये नव पदार्थ मुल द्रव्य नहीं हैं किन्तु छःद्रव्योंके ही भेद हैं अर्थात् जीव और पुद्गल द्रव्यके संयोग और वियोगकी व्यवस्थाको बतानेके लिये ये नव पदार्थ हैं; धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन दो द्रव्योंकी नाना प्रकारकी अवस्थाओंके होनेके लिये निमित्त कारण हैं।

ऐसा ही श्री नेमिचंद सि० च०ने द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

**आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।**
**जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥**

भावार्थ—आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये पांच तत्व और पुण्य व पापको लेकर सात पदार्थ जीव और अजीवके भेद हैं उनको भी संक्षेपसे कहूंगा।

स्वामी कुन्दकुन्दने समयसारजीमें यही कहा है—

**भूदत्थेणाभिगता जीवाजीवा य पुण्णपावं च।**
**आसवसंवरणिज्जर बंधण मोक्खो य सम्मत्तं ॥**

भावार्थ–निश्चयनयसे जीवादि नौ पदार्थ जाने हुए सम्यक्त होते हैं अर्थात् जो इनमें जीव और पुद्गलको भिन्न देखकर पुद्गलको त्याग जीवको ग्रहण कर लेता है वही सम्यक्तका धारी होता है ।

उत्थानिका–आगे प्रथम ही मोक्षमार्गकी सूचना संक्षेपमें करते हैं–

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥ ११३ ॥

सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रं रागदोषपरिहीनं ।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनां ॥ ११३ ॥

अन्यव सहित सामान्यार्थ–(लब्धबुद्धीणं) आत्मज्ञान प्राप्त (भव्वाणं) भव्य जीवोंके लिये (सम्मत्तणाणजुत्तं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित तथा (रागदोसपरिहीणं) रागद्वेष रहित (चारित्तं) चारित्र (मोक्खस मग्गो) मोक्षका मार्ग (हवदि) होता है ।

विशेषार्थ–शुद्ध आत्माके अनुभवको रोकनेवाला बंध है जब कि अपने आत्माकी प्राप्ति रूप मोक्ष है । मोक्षरूपी नगर अनंतज्ञान आदि गुणरूपी अमूल्य रत्नोंसे भरा है । उसी नगरका मार्ग सम्यक्त और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग चारित्र है । इस मार्गपर वे भव्य जीव ही चल सक्ते हैं जिनको शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रगटताकी योग्यता है तथा जिनको विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप बुद्धि प्राप्त हो चुकी है । यह मोक्षमार्ग उन अभव्योंको नहीं मिलता जिनमें शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्रगटताकी योग्यता नहीं है तथा उन भव्योंको भी नहीं मिलता जिनमें मिथ्या श्रद्धान सहित राग आदि परिणतिरूप विषयानंदमई स्वसंवेदनरूप कुबुद्धि पाई जाती

है। जिनके कषायोंका नाश हो जानेपर शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो जाती है उनहीके यह पूर्ण मोक्षमार्ग होता है। जहांतक कषाय है और अशुद्ध आत्माका लाभ है वहांतक पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं होता है। यहांपर अन्वय व व्यतिरेकसे आठ तरहका नियम देख लेना चाहिये। अन्वय व्यतिरेकका स्वरूप कहा जाता है-जिसके होते हुए कार्य संभव हो उसे अन्वय व जिसके न होते हुए कार्य संभव न हो उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे यहां उदाहरण है कि निश्चय व्यवहाररूप मोक्ष कारणके होते हुए ही मोक्ष कार्य होता है यह विधिरूप अन्वय कहा जाता है तथा इस मोक्ष कारणके अभाव होनेपर मोक्षरूपी कार्य नहीं होता है यह निषेधरूप व्यतिरेक है। इसीको और भी दृढ़ करते हैं जैसे जहां अग्नि आदि कारण होंगे वहीं उसका धूआं आदि कार्य होसक्के हैं, जहां अग्नि आदिका अभाव होगा वहां उसके धूम्र आदि कार्य नहीं होंगे। क्योंकि धूमादि कार्यका अग्नि आदि कारण हैं इसतरह कार्य और कारणका नियम है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-यहां यह बताया गया है कि मोक्षका मार्ग समझते हुए आठ बातोंका नियम जान लेना योग्य है (१) सम्यक्त सहित ज्ञान होना आवश्यक है (२) चारित्र होना चाहिये जो आत्म स्वभावमें मगनता रूप है (३) वह चारित्र रागद्वेष रहित वीतराग होना उचित है (४) ऐसा मार्ग शुद्ध आत्माके लाभरूप मोक्षका ही है, किसी प्रकार बंध अवस्थाका यह मार्ग नहीं है (५) वास्तवमें यही मार्ग है, यह कभी अमार्ग नहीं होसक्ता (६) ऐसा मार्ग भव्योंके ही होता है, अभव्योंको यह मार्ग कभी प्राप्त नहीं होता। (७)

तथा उनहीको होता है जिनके आत्मज्ञान हो चुका है। (८) इस मार्गकी पूर्णता कषाय रहित पूर्ण वीतरागी जीवोंके ही होती है।

इस गाथामें यह दिखला दिया है कि जबतक कोई भव्यजीव रुचिवान होकर आत्मा और अनात्माका भेद भले प्रकार न समझ लेगा, और भेदज्ञानके अभ्याससे स्वानुभवको न प्राप्त कर लेगा तबतक उसे मोक्षमार्ग नहीं मिल सक्ता है। जब स्वानुभव होता है तब ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रगटता होती है तथा ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव भी जबतक कषायोंके नाशका उद्यम न करेगा और वीतरागी न होगा तबतक वह मोक्षमार्गकी ऐसी पूर्णता नहीं पा सक्ता जिससे आत्माके स्वभावकी प्रगटतारूप केवलज्ञानरूपी भाव-मोक्षका लाभ हो सके। अतएव जो मोक्षकी प्राप्ति करना चाहें उनके लिये यह उचित है कि तत्वोंकी रुचि पैदा करें और अध्यात्मिकज्ञानमें रमण करनेके अभ्यासी बनें। जिनको जलसे भिन्न दूध दिखता है वे ही हंस दूध पी जल छोड़ देते हैं। इसी तरह जिनको पुद्गलसे भिन्न आत्माका अनुभव होता है वे ही पुद्गलका मोह त्याग आत्माके स्वभावमें आसक्त हो जाते हैं।

इसीलिये श्री अमितिगति महाराजने बड़े सामायिकपाठमें बड़ी सुन्दर भावना की है—

> जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बंधास्त्रवौ रुंधतः,
> शाश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिश्रियं कांक्षतः।
> देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो,
> धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो॥ ४॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! मेरे जीवनका समय इन कामोंमें सदा व्यतीत रहो—अर्थात् मैं जीव और अजीव पदार्थोंका भिन्न२ स्वरूप

जानता रहूं। (२) बंध और आश्रवको रोकता रहूं। (३) सदाकाल संवर और निर्जराको करता रहूं। (४) मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी चाह रखता रहूं। (५) शरीर आदिसे अपने निर्मल परमात्म तत्वको निश्चयसे भिन्न अनुभव करता रहूं। (६) तथा धर्मध्यान और समाधिके लाभमें मेरा शुद्ध मन वर्तन करता रहे।

उत्थानिका—आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनको कहते हैं—

नोट—यह गाथा श्री अमृतचंद्रजीकी वृत्तिमें नहीं है।

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावदो भावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्तो ॥११४॥

एवंजिनप्रज्ञप्तान् श्रद्दधतः भावतो भावान्।
पुरुषस्याभिनिवोधे दर्शन शब्दो भवति युक्तः ॥ ११४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(एवं) जैसा पहले कहा है (जिणपण्णत्ते) वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए (भावे) पदार्थोंको (भावदो) रुचिपूर्वक (सद्दहमाणस्स) श्रद्धान करनेवाले (पुरिसस्स) भव्य जीवके (अभिणिबोधे) ज्ञानमें (दंसणसद्दो) सम्यग्दर्शनका शब्द (जुत्तो) उचित (हवदि) होता है।

विशेषार्थ—यहां पदार्थोंसे प्रयोजन है कि तीन लोक व तीन काल सम्बन्धी सर्व पदार्थोंके सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाननेको समर्थ ऐसे केवल दर्शन और केवल ज्ञानमई लक्षणको रखने वाले आत्मा द्रव्यको आदि लेकर सर्व सदार्थ ग्रहण करने योग्य हैं। यहां इस सूत्रमें यद्यपि कोई निर्विकल्प समाधिके अवसरमें निर्विकार शुद्ध आत्माकी रूचिरूप निश्चय सम्यक्तको स्पर्श करता है तथापि उसके अधिकतर बाह्य पदार्थोंकी रुचि रूप जो व्यवहार सम्यक्त

है उसीकी ही मुख्यता है, क्योंकि जिसकी विवक्षा हो वही मुख्य होजाता है। क्योंकि यहां व्यवहार मोक्षमार्गका प्रस्ताव है इसलिये उसीकी ही प्रधानता है।

भावार्थ-इस गाथामें यह बताया है कि जिस समय जिस जीवके ज्ञानमें यह बात झलके कि उसकी श्रद्धा उन छः द्रव्य और नव पदार्थोंमें बराबर जम रही है, जिनका स्वरूप उसने वैसा ही समझा है जैसा श्री अरहंत भगवानने कहा था, उस समय उसको समझना चाहिये कि वह व्यवहार सम्यग्दर्शनका धारी है। साधारण नियमयहीहैकि जो जीव जीवादि पादार्थोंपर रुचि पैदा करके पुनः पुनः मनन करेगा उसीको शुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन हो सकेगा। अतएव बुद्धिबलसे जीवादि पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान प्राप्त करना योग्य है। श्री नागसेन मुनिने तत्वानुशासनमें यही कहा है-

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं ॥२५॥

भावार्थ-जीवादिक नवो पदार्थोंको जैसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है वैसा ही उनका स्वरूप है ऐसी जो श्रद्धा होनी सो सम्यग्दर्शन कहा गया है।

उत्थानिका-आगे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमई रत्नत्रयका व्याख्यान करते हैं-

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं॥ ११५ ॥

सम्यक्त्वं श्रद्धानं भावानां तेषामधिगमो ज्ञानम्।
चारित्रं समभावो विषयेष्वविरूढमार्गाणाम् ॥ ११५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(भावाणं) पदार्थोंका (सद्दहणं) श्रद्धान करना (सम्मत्तं) सम्यक्त है। (तेसिं) उनका (अधिगमः) जानपना (णाणं) सम्यग्ज्ञान है (विरुढ़मग्गाणं) मोक्षमार्गमें आरूढ़ जीवोंका (विसयेसु) इंद्रियोंके विषयोंमें (समभावः) समताभाव रहना (चारित्तं) सम्यक्चारित्र है।

विशेषार्थ-पांच अस्तिकाय छः द्रव्यके भेदसे जीव और अजीव दो पदार्थ हैं। इनमेंसे जीव और पुद्गलके संयोग भावसे आस्रव आदि अन्य सात पदार्थ उत्पन्न हुए हैं-जैसा इनका लक्षण कहा गया है वैसा इन नव जीवादि पदार्थोंका जो व्यवहार सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं मिथ्यात्वके उदयसे जो विपरीत अभि-प्राय होता है उसको छोड़कर श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है इस रुचि-रूप निश्चय सम्यग्दर्शनका और अल्पज्ञ अवस्थामें आत्मा सम्बन्धी स्वसंवेदन ज्ञानका परम्परासे बीज है और यह स्वसंवेदन ज्ञान है सो अवश्य केवलज्ञानका बीज है। इन ही नव पदार्थोंका संशय रहित यथार्थ जानना सो सम्यग्ज्ञान है तथा इस सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे सर्व अन्य मार्गोंसे अलग होकर विशेषपने इस मोक्षमार्गपर आरूढ़ होनेवालोंका इंद्रिय और मनके भीतर आए हुए सुख या दुःखकी उत्पत्तिके कारण शुभ या अशुभ पदार्थोंमें समता या वीतराग भाव रखना सो सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहारचारित्र बाहरी साधन है तथा यही वीतराग चारित्रकी भावनासे उत्पन्न जो परमात्म स्वभावमें तृप्तिरूप निश्चयसुख है उसका बीज है और वह निश्चयसुख अक्षय और अनन्तसुखका बीज है। यहांपर इसी

बातकी मुख्यता बताई है कि व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है ।

भावार्थ—इस ग्रंथ जीवका ध्येय अविनाशी स्वाधीन अनंत-सुखकी प्राप्ति करना है जो उसी समय संभव है, जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहनीय इन चार घातिया कर्मोंका नाश हो जावे । इनका नाश होनेका उपाय शुद्धात्मानुभव है अर्थात् निश्चय रत्नत्रय है, जहां अपने आत्माका श्रद्धान व ज्ञान सहित अपने आत्मा हीके स्वादमें वर्तन होता है। इस एकीभावका कारण व्यवहार मोक्षमार्ग है । जो कोई जीवादि नव पदार्थोंका स्वरूप आगम, गुरु तथा प्रमाण, नय, निक्षेपके द्वारा शंकारहित जानकर संसारकी रुचिरूप मिथ्या रुचिको छोड़कर स्वरूप प्राप्तिरूप मोक्षकी रुचिको रखकर उनका श्रद्धानी हो जाता है, फिर श्रद्धानके अनुसार मुनि या श्रावकके व्यवहारचारित्रमें अपनेको आरुढ़ करता हुआ पांच इंद्रिय और मनमें जो शुभ या अशुभ पदार्थ ग्रहणमें आवें उनमें यह समझकर कि पदार्थोंका सम्बन्ध कर्म—जनित होता है रागद्वेष न करके, समताभाव रखता है और निरन्तर इस साम्यभावका अभ्यास करता है उसको उसी तरह स्वात्मानुभव रूप निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग प्राप्त होता रहता है, जैसे दूध विलोनेवालेको मक्खनका लाभ होता है । जिस समय परिणति स्वरूपमें रमने लगती है आत्म सुखका स्वाद आता है । बस यही आनन्द कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये ध्यानकी अग्नि है । इसी अग्निमें निरन्तर कर्मरूपी ईंधनको जला-नेका अभ्यास करते हुए कभी न कभी सब चार घातियाकर्म जल

जाते हैं और यह आत्मा महात्मा या अंतरात्मासे परमात्मा हो जाता है और तव अनन्त स्वाधीन आनन्दका निरन्तर उपभोग किया करता है। श्रीपूज्यपाद महाराज इष्टोपदेशमें कहते हैं–

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥
आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं।
न चासौ खिद्यते योगी वहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

भावार्थ–जो व्यवहार प्रपंचसे वाहर होकर आत्माके ध्यानमें तन्मय होजाता है उस योगीके योगवलसे कोई अपूर्व परमानंद अनुभवमें आता है। यही आनंद निरंतर कर्मरूपी ईंधनको जलाता रहता है–आनंद भोगी योगी वाहरी परीषह उपसर्गोंके पड़ने पर भी उनकी तरफ ध्यान न लगाता हुआ किंचित् भी क्लेशको नहीं प्राप्त होता है।

अतएव जो अपना हित करना चाहें तथा इसलोक और परलोक दोनोंमें सुखी रहना चाहें उनको व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलकर निश्चय मोक्षमार्गका लाभ कर लेना चाहिये–प्रमादमें इस नर जन्मके समयको न खोना चाहिये।

इस तरह नव पदार्थके प्रतिपादक दूसरे महा अधिकारमें व्यवहार मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा पहला अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका–आगे जीव आदि नव पदार्थोंके मुख्यतासे नाम तथा गौणतासे उनका स्वरूप कहते हैं–

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥ ११९ ॥

जीवाजीवौ भावौ पुण्यं पापं चास्रवस्तयोः ।

संवरनिर्जरबंधाः मोक्षाश्च भवन्ति ते अर्थाः ॥ ११६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवाजीवा भावा) जीव और अजीव पदार्थ ( पुण्णं पावं च ) तथा पुण्य और पाप (च) और (तेसिं) उनका (आस्रवं) आस्रव, (य) तथा ( संवरणिज्जरबंधो मोक्खो ) संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष (ते अट्ठा) ये पदार्थ (हवंति) होते हैं।

विशेषार्थ-यहां इन नौ पदार्थोंका कुछ स्वरूप कहते हैं। देखना जानना जिसका स्वभाव है वह जीव पदार्थ है। उससे भिन्न लक्षणवाला पुद्गल आदिके पांच भेद रूप अजीव पदार्थ है। दान, पूजा आदि छः आवश्यकोंको आदि लेकर जीवका शुभ भाव सो भाव पुण्य है-इस भाव पुण्यके निमित्तसे उत्पन्न जो सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतिरूप पुद्गल परमाणुओंका पिंड सो द्रव्य पुण्य है। मिथ्यादर्शन व राग आदिरूप जीवका अशुभ परिणाम सो भाव पाप है-उसके निमित्तसे प्राप्त जो असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृति रूप पुद्गलका पिंड सो द्रव्य पाप है। आस्रव रहित शुद्ध आत्मा पदार्थसे विपरीत जो रागद्वेष मोह रूप जीवका परिणाम सो भाव आस्रव है, इस भावके निमित्तसे कर्म-वर्गणाके योग्य पुद्गलोंका योगोंके द्वारा आना सो द्रव्यास्रव है। कर्मोंके रोकनेमें समर्थ जो विकल्प रहित आत्माकी प्राप्ति रूप परिणाम सो भाव संवर है। इस भावके निमित्तसे नवीन द्रव्यकर्मोंके आनेका रुकना सो द्रव्यसंवर है। कर्मकी शक्तिको मिटानेको समर्थ जो बारह प्रकार तपोंसे बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग सो संवर पूर्वक भाव निर्जरा है। इस शुद्धोपयोगके द्वारा रस रहित होकर पुराने बंधे

हुए कर्मोंका एकदेश जल जाना सो द्रव्य निर्जरा है। प्रकृति आदि बंधसे शून्य परमात्म पदार्थसे प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन व राग आदि रूप चिकना भाव सो भावबंध है। इस भावबंधके निमित्तसे जैसे तेल लगे हुए शरीरमें धूला जम जाता है वैसे जीव और कर्मके प्रदेशोंका एक दूसरेमें मिल जाना सो द्रव्यबंध है। कर्मोंको मूलसे हटानेमें समर्थ जो शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप जीवका परिणाम सो भावमोक्ष है। इस भावमोक्षके निमित्तसे जीव और कर्मके प्रदेशोंका सम्पूर्णपने भिन्न २ होजाना सो द्रव्यमोक्ष है, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें नौ पदार्थोंके नाम अर्थ सहित कहे गए हैं। ये बहुत आवश्यक हैं क्योंकि जो संसारी जीव है और वह अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित होकर उनसे छूटना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह जाने कि संसार रोग चढ़नेका कारण क्या है व किस कारणसे रोगकी वृद्धिको रोका जा सक्ता है व कैसे पुराना रोग दूर किया जा सक्ता है तथा निरोग अवस्थामें कैसा सुख रहता है। तथा संसारमें जो सुख और दुःख भोगना पड़ता है उसका कारण क्या है? इन प्रश्नोंके उत्तर रूप वास्तवमें ये नौ पदार्थ हैं। पुण्य और पाप पदार्थ वास्तवमें आस्रव, बंधमें गर्भित हैं इसलिये कहीं मात्र सात तत्व ही प्रयोजनभूत कहे हैं। जीवोंका सुखका कारण पुण्यकर्म है व दुःखका कारण पापकर्म है इस बातको विशेष रूपसे व विस्तारपूर्वक बतानेके लिये पुण्य और पाप दो पदार्थ कहे गए हैं क्योंकि जितना वचनका विस्तार है सो सब समझने समझानेके लिये है। संग्रहनयसे संक्षेप कथन

किया जाता है, व्यवहारनयसे उसीका विस्तार इच्छानुसार व शिष्यकी योग्यताके अनुसार कम व अधिक किया जा सक्ता है। आठ कर्म मूल कर्म हैं, उनमें जो आत्माके गुणोंको घातें ऐसे चार घातियाकर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह पाप-कर्म ही हैं, इनमें पुण्यपना रञ्चमात्र भी नहीं है। शेष चार अघा-तियाकर्मोंमें पुण्य और पापके भेद होते हैं। सातावेदनीय, शुभ-नाम, उच्चगोत्र व शुभ आयु पुण्यकर्म हैं जबकि असातावेद-नीय, अशुभ नाम, नीचगोत्र व अशुभ आयु पापकर्म हैं। बाहरी साताकारी व असाताकारी निमित्तोंका सम्बन्ध मिलाना इन अघा-तिया कर्मोंका कार्य है। जीव पदार्थसे जीवका स्वरूप, अजीवसे जीवसे अन्य विश्वमें क्या है यह बताकर जिनके कारण यह जीव अशुद्ध या रोगी होता है वे कर्म पुद्गल द्रव्य रूप जड़ हैं, जीवके स्वभावसे भिन्न हैं अजीव हैं, ऐसा समझाया है। जीवकी सत्तामें बंधके सन्मुख होनेके योग्य शक्तिके द्वारा इन जड़ कर्मवर्गणाओंका होजाना यह बतानेको आस्रव है फिर उनहीका जीवके प्रदेशोंके साथ बंधरूप होकर मिलजाना अर्थात् जीवको कुछ काल तक बंधरूप मलीन रखना इसके बतानेके लिये बंध पदार्थ है। वास्तवमें आस्रव और बंध पदार्थोंसे ही यह ज्ञान होता है कि किन भावोंसे जीव अशुद्ध होता है। फिर संसार रोग मिटानेके लिये नया कर्मरूपी रोग रोका जाय इसके लिये संवर पदार्थ कहा है—पुराने बंधे हुए कर्म समयसे पहले शीघ्र आत्मासे छुड़ा डाले जावें इसे बतानेके लिये निर्जरा पदार्थ कहा है—रोग रहित अवस्था बतानेको मोक्ष पदार्थ कहा है कि मोक्षमें जीव अपने आत्माकी शुद्ध अवस्थामें

सदाकाल विद्यमान रहता है। इन नौ पदार्थोंके ज्ञानसे अपना हित करनेका मार्ग सूझ जाता है। यदि निश्चयनयसे देखा जावे तो इन नव पदार्थोंमें केवल दो ही द्रव्योंका सम्बन्ध है—जीव और पुद्गलका। इसीलिये आस्रव आदि पदार्थोंके दो दो भेद बताए हैं। जैसे जीव आश्रव या भाव आस्रव तथा पुद्गल आस्रव या द्रव्य आस्रव, जीवबन्ध या भावबन्ध तथा पुद्गलबन्ध या द्रव्यबन्ध, जीव संवर या भावसंवर, पुद्गलसंवर या द्रव्यसंवर, जीव निर्जरा या भावनिर्जरा, पुद्गल निर्जरा या द्रव्य निर्जरा, जीव मोक्ष या भाव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष या द्रव्यमोक्ष, जीव पुण्य या भाव पुण्य, पुद्गल पुण्य या द्रव्य पुण्य, जीव पाप या भाव पाप, पुद्गल पाप या द्रव्य पाप। जिन जीवोंके भावोंसे पुद्गलमें परिणमन होता है उनको भाव आस्रव आदि कहा है व जिनमें परिणमन होता है उन पुद्गलोंको द्रव्य आस्रव आदि कहा है। जीव और पुद्गल दोनों परिणमनशील हैं व जहांतक जीव अशुद्ध है वहांतक जीवके भावोंका असर पुद्गलकी परिणति ( तबदीली )में व पुद्गलका असर जीवके भावोंकी परिणति ( तबदीली )में हुआ करता है। विना दो द्रव्योंके मेलके न संसार होसक्ता है न मोक्ष होसक्ता है। जो केवल एक ही द्रव्य मानते हैं उनके मतमें बन्ध व मोक्ष या मोक्षका उपाय कुछ भी नहीं बन सक्ता है। जैसा स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें कहा है—

> कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
> विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

भावार्थ—एक ही द्रव्य माननेसे पुण्य पाप कर्म, सुख दुःख फल, यह लोक परलोक, ज्ञान व अज्ञान, बंध व मोक्ष इन सबका

जोड़ा कभी नहीं होसक्ता है। जीव और पुद्गलका मिश्रण संसार है और दोनोंका पृथक्२ होजाना मोक्ष है। स्वामी कुन्दकुंद महाराजने समयसार आदिमें दो द्रव्योंकी आवश्यकता बता दी है। कहा है–

एक्कस्स दु परिणामा जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदू हि विणा जीवस्स परिणामो ॥ १४६ ॥
एक्कस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदू हि विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४७ ॥

भावार्थ–यदि एक मात्र इस जीवके ही रागादि भाव होते हैं ऐसा मानेंगे तो यह दोष आवेगा कि कर्मके उदयके विना भी जीवके रागादि भाव हो जाया करेंगे तब कोई मुक्तात्मा भी सदा वीतरागी नहीं रह सकेगा, उसके भी रागद्वेष भाव हो सकेंगे और यदि एक पुद्गलद्रव्य अपने आप ही विना जीवके भावके निमित्तके कर्मरूप हो जाया करे तो पुद्गल ही कर्म कर्ता हो जायगा, जीवके रागादि भावोंका कुछ कार्य न रहेगा। प्रयोजन यह है कि जीव और पुद्गल यद्यपि अपने२ परिणमनमें आप ही उपादान कारण तथापि एक दूसरेके अशुद्ध परिणमनमें एक दूसरेका निमित्त सहायपना आवश्यक है। पुद्गलकर्मोंके उदयके निमित्तसे जीवके अशुद्ध भाव होते हैं व जीवके अशुद्ध भावोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मवर्गणा पिंड ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप बंधता है। जब ज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थको सम्हालता है और शुद्ध भावोंमें रमण करने लगता है तब कर्मवर्गणा स्वयं आत्मासे अलग होने लगती हैं और यह जीव कभी न कभी शुद्ध और मुक्त हो जाता है। जहां ममत्व है वहां बंध है, जहां निर्ममत्व है वहां मोक्ष है, जैसा स्वामी पूज्यपादने इष्टोपदेशमें कहा है–

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो ममता सहित जीव है वह बंधता है तथा जिसने ममता छोड़ दी है वह मुक्त होजाता है इसलिये सर्व प्रयत्न करके ममता रहित भावका विचार करना चाहिये। इसतरह जीव अजीव आदि नव पदार्थोंके नव अधिकार इस ग्रंथमें हैं इस सूचनाकी मुख्यतासे एक गाथा सूत्र समाप्त हुआ।

आगेके कथनकी सूचना—आगे पंद्रह गाथातक जीव पदार्थका अधिकार कहा जाता है—इन पंद्रह गाथाओंके मध्यमें पहले जीव पदार्थके अधिकारकी सूचनाकी मुख्यतासे "जीवा संसारत्था" इत्यादि गाथासूत्र एक है, फिर पृथ्वीकाय आदि स्थावर एकेंद्रिय पांच होते हैं इसकी मुख्यतासे " पुढवीय " इत्यादि पाठक्रमसे गाथाएं चार हैं। फिर विकलेंद्रिय तीनके व्याख्यानकी मुख्यतासे " संबुक " इत्यादि पाठके क्रमसे गाथाएं तीन हैं। फिर नारकी, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति सम्बन्धी चार प्रकार पंचेंद्रियोंका कथन करते हुए "सुरणर" इत्यादि पाठके क्रमसे गाथाएं चार हैं। फिर भेद भावनाकी मुख्यतासे हित अहितका कर्तापना और भोक्तापना कहनेकी मुख्यतासे "ण हि इंदियाणि" इत्यादि गाथाएं दो हैं पश्चात् जीव पदार्थके संकोच कथनकी मुख्यतासे तथा जीव पदार्थके प्रारंभकी मुख्यतासे " एवमधिगम्म " इत्यादि सूत्र एक है। इसतरह पंद्रह गाथाओंसे छः स्थलोंके द्वारा दूसरे अंतर अधिकारमें समुदायपातनिका कही।

उत्थानिका—आगे जीवका स्वरूप कहते हैं—

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥ ११७ ॥

जीवाः संसारस्था निर्वृत्ताः चेतनात्मका द्विविधाः।
उपयोगलक्षणा अपि च देहादेहप्रवीचाराः ॥ ११७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवा) जीव समुदाय (दुविहा) दो प्रकारका है (संसारत्था) संसारमें रहनेवाले संसारी (णिव्वादा) मुक्तिको प्राप्त सिद्ध (चेदणप्पगा) ये चैतन्यमई हैं, (उवओगलक्खणा) उपयोग रूप लक्षणके धारी भी हैं (य) और (देहादेहप्पवीचारा) शरीर-भोगी तथा शरीर भोग रहित हैं। जो संसारी हैं वे शरीर सहित हैं तथा जो सिद्ध हैं वे शरीर रहित हैं।

विशेषार्थ-वृत्तिकारने चेतनात्मकका द्विविध विशेषण करके यह अर्थ किया है कि ये संसारी जीव अशुद्ध चेतनामई तथा मुक्त जीव शुद्ध चेतनामई हैं। अशुद्ध चेतनाके दो भेद हैं-कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। रागद्वेष पूर्वक कार्य करनेका अनुभव सो कर्म-चेतना है तथा सुखी और दुःखी होने रूप अनुभव सो कर्मफल-चेतना है। आत्माके शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावका अनुभव सो शुद्ध ज्ञानचेतना है। चैतन्य गुणके भीतर होनेवाली परिणतिको उपयोग कहते हैं। कहा है-"चैतन्यानुविधायि परिणाम उपयोगः"। मुक्त जीवोंके केवलज्ञान और केवल दर्शन उपयोग है जब कि संसारी जीव अशुद्ध या क्षयोपशमरूप मतिज्ञानादि उपयोग सहित हैं। संसारी जीव देह रहित आत्मतत्त्वसे विपरीत शरीरोंके धारी हैं जब कि सिद्ध जीव सर्व प्रकार शरीरसे रहित हैं।

भावार्थ-यद्यपि जातिकी अपेक्षा जीव द्रव्य एक है क्योंकि

जीवत्व या जीवपना सर्व ही जीवोंमें पाया जाता है तथापि अपने अपने गुण पर्यायोंके धारी जीव द्रव्य अनंतानंत हैं, सबकी सत्ता भिन्न२ है। हरएक जीव यद्यपि शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा एक दूसरेके समान हैं तथापि आकार या प्रदेशोंकी अपेक्षा सब भिन्न२ हैं। हरएक जीव अपने भीतर होनेवाले परिणामोंका आप स्वामी है। एकके भावोंका स्वामी दूसरा नहीं हो सक्ता है। जब जिस जीवमें अशुद्ध भाव होता है तब वही जीव कर्मोंका बंध करता है, उसी समय यदि दूसरे जीवमें वीतरागभाव होता है तब वह कर्मोंकी निर्जरा करता है। जब कोई जीव सम्यग्दृष्टी है और आत्माके स्वादमें मगन है तब वह आत्मानंदका लाभ कररहा है उसी समय एक मिथ्यादृष्टी जीव आत्माको भूला हुआ विषयसुखमें लीन हो विषयसुख भोग रहा है तब ही दूसरा कोई विषयोंमें सहकारी सामग्रीको न पाकर शोकातुर हो दुःखका भोग कररहा है। प्रयोजन यह है कि हरएक जीव अपने हित तथा अहितका आप ही अधिकारी या जिम्मेवार है। एक दूसरेको उपदेश देकर प्रेरणा तो कर सक्ता है पर बलात्कार कोई किसीके भावोंको नहीं पलट सक्ता। जबतक उसके स्वयं परिणाम न बदलेंगे तबतक वह परके उपदेशसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सक्ता है।

जगतका प्रवाह अनादि है इसलिये अनादिसे ही दो प्रकारके जीव पाए जाते हैं—संसारी और सिद्ध। अनादि प्रवाहरूप अवस्थामें हम जैसे यह नहीं कह सक्के कि कभी वृक्ष न था बीज ही था व कभी बीज न था वृक्ष ही था किन्तु यही मानना होगा कि बीज और वृक्ष दोनों अनादि हैं, इसी तरह जगतमें संसारी और सिद्ध

दो प्रकारके जीव सदासे हैं। हम यह नहीं कह सक्ते कि किसी समय मात्र संसारी ही जीव थे सिद्ध जीव न थे। अनादि जगतके प्रवाहमें जैसे संसार अनादि है वैसे संसारसे छूटनेका मार्ग भी अनादि है। सदा ही विदेहमें तीर्थंकरोंका उपदेश होता रहता है। भरत और ऐरावतमें हरएक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें चौवीस तीर्थंकर होते रहते हैं। जैसे एक वृक्षसे उपजे अनेक चने होते हैं उनमेंसे कोई भून लिये जाते हैं और कोई बोए जाते हैं। जो भुन जाते हैं उनसे फिर वृक्ष नहीं होता है तथा जो बोए जाते हैं उनसे वृक्ष होता है, वैसे ही नित्य निगोदसे निकले हुए जीव जो कोई मोक्ष-मार्गका सेवन करते हैं वे कभी न कभी शुद्ध और मुक्त हो जाते हैं, जो कर्मोंको बांधते ही रहते हैं वे पुनः पुनः जन्म मरण करते रहते हैं। जैसे हम यह नहीं कह सक्ते कि किसी समय चने भूने नहीं जाते थे या खाये नहीं जाते थे वैसे हम यह नहीं कह सक्ते कि किसी समय सब जीव संसारी ही थे कोई भी सिद्ध न था–अनादिकालीन जगतका प्रवाह सिद्ध होता है। यह सादि है ऐसा प्रमाण व युक्तियोंसे सिद्ध नहीं होता अतएव सिद्ध और संसारी दोनोंको अनादिसे ही मानना होगा। हरएक जीव उपयोगका धारी है। जो ज्ञानशक्ति जीवमें है वह किसी न किसी भावरूप परिणमन किया करती है। उपयोगको देखकर ही जीवकी सत्ताका निर्णय होता है इसलिये उपयोग जीवका लक्षण है। जब कोई आदमी किसी वस्तुकी गंध अपनी नासिका इंद्रियद्वारा मतिज्ञानोपयोगसे ग्रहण कर सक्ता है तब ही यह अनुमान कराता है कि शरीरमें जाननेवाला जीव विराजमान

है । जब हम किसी मनुष्यको देखते हुए, चलते हुए, लिखते हुए, पढ़ते हुए, काम करते हुए देखते हैं हमको यही अनुमान होता है कि इस जीवका ज्ञानोपयोग इन कामोंमें उपयुक्त है, बस हमको जीवकी सत्ताका निश्चय हो जाता है। जो मृतक प्राणी सुंघानेसे सूंघता नहीं, खिलानेसे खाता नहीं, जगानेसे जागता नहीं, कहनेसे सुनता नहीं वह यही अनुमान कराता है कि उपयोगका धारी जीव जो इस शरीरका स्वामी था वह इस शरीरको छोड़ गया है क्योंकि यहां उसके उपयोग लक्षणका अभाव है । इसी कारणसे गाथामें जीवोंका लक्षण उपयोगमई कहा है। सिद्ध या मुक्त जीवोंका उपयोग अपने आत्माके भोगमें तन्मय है इसलिये वे भी शुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोगमई हैं। जहांतक तैजस, कार्मण शरीरका सम्बन्ध है वहीं तक संसार है। ये दोनों कारण शरीर हैं। इनहींके कारणसे अन्य तीन शरीर औदारिक, वैक्रियिक और आहारक होते हैं व काम करते हैं—इन दोनों शरीरोंका विलकुल छूट जाना मुक्ति है । मुक्त जीवोंमें कारण शरीर नहीं रहता है इसलिये वे कभी भी फिर संसार अवस्थामें नहीं आसक्ते हैं । जिनके साथ कार्मण देह है और जो उन कर्मोंके असरसे किसी जगह रहते हैं उनको उस कर्मके असर हटनेपर और दूसरे बांधे हुए आयु और गति कर्मके उदयके असरसे उस खास अवस्थाको छोड़कर दूसरी गतिमें आना पड़ता है। सिद्ध जीव किसी कर्मके असरसे नहीं जीते हैं । वे कर्म रहित होकर अपने शुद्ध जीवत्व गुणसे सदा जीते हैं इसलिये वे कभी संसारी नहीं होसक्ते हैं—उनके पांचों ही प्रकारका शरीर नहीं होता है। संसारी जीव जब अशुद्ध चेतनाके भोगी हैं तब मुक्त या शुद्ध

जीव शुद्ध ज्ञान चेतनाके भोगी हैं। मिथ्यादृष्टी संसारी जीवोंके तो कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका ही उपभोग है—वे रातदिन या तो किसी कार्यको रागद्वेष पूर्वक करनेमें मग्न रहते हैं या अपनेको सुखी या दुःखी माननेमें अनुरक्त हैं। सम्यग्दृष्टी संसारी जीव जबतक निर्विकल्प समाधिमें न पहुंचे उन दोनों चेतनाओंको विना मोह या मिथ्याभावको पाए हुए भोगते रहते हैं। स्वानुभवके कालमें ज्ञानचेतनाको भी भोगते हैं परन्तु शुद्ध ज्ञानचेतनाका भोग अरहंत और सिद्ध परमात्मा ही के है। इस तरह इस गाथामें जीव पदार्थका कुछ स्वरूप वर्णन किया गया है। श्रीपद्मनंदी मुनि कृत ज्ञानसारमें संसारी और सिद्ध आत्माका या परमात्माका स्वरूप इस तरह कहा है—

जीवो कम्मणिवद्धो चउगइसंसारसायरे घोरे।
वुड्डुई दुक्खाक्कंतो अलहंतो णाणवो हित्थं॥ २०॥

भावार्थ—संसारी जीव कर्मोंसे वंधा हुआ चारगतिमय भयानक संसारमें दुःखोंको भोगता हुआ तथा ज्ञानके अनुभवको न पाता हुआ बूड़ा रहता है।

दुविहो तह परमप्पा सयलो तह णिक्कलोत्ति णायव्वो।
सयलो अरुहसरूवो सिद्धो पुणु णिक्कलो भणिओ॥ ३२॥
जरमरणजम्मरहिओ कम्मविहीणो विमुक्कवावारो।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो णिरुवमो सिद्धो॥ ३३॥
परमट्ठ गुणे हि जुदो अणंतगुणभायणो णिरालंबो।
णिच्छेओ णिब्भेओ अणंदिदो मुणह परमप्पा॥ ३४॥

भावार्थ—तथा परमात्मा दो प्रकारका है—एक सकल या शरीर सहित, दूसरा निकल या शरीररहित ऐसा जानो। सकल परमात्मा

अरहंत है तथा निकल परमात्मा सिद्ध भगवान कहे गए हैं। जो जन्म, जरा, मरणसे रहित हैं, कर्मोंसे शून्य हैं, हलनचलनादि व्यापार रहित हैं, चार गतिमें आनेजानेसे रहित हैं, रागद्वेषादि मलरहित निरञ्जन हैं, तथा उपमा रहित हैं वे सिद्ध हैं। जो उत्तम सम्यक्त आदि आठ गुण सहित हैं, और भी अनन्तगुणोंके पात्र हैं, परके आलम्बन रहित हैं, जो छेदरहित, भेदरहित, आनन्दमई हैं उनको सिद्ध परमात्मा जानो।

इस तरह जीवाधिकारकी सूचनाकी गाथारूपसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे संसारी जीवोंके भीतर जो एकेन्द्री स्थावर जीव हैं उनके पांच भेदोंको कहते हैं—

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहवहुलं फासं वहुगा वि ते तेसिं॥ ११८॥

पृथिवी चोदकमग्निर्वायुवनस्पतीजीवसंश्रिताः कायाः।
ददति खलु मोहवहुलं स्पर्शं वहुका अपि ते तेषां॥ ११८॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—( पुढवी य उदगमगणीवाउवणप्फदिजीवसंसिदा ) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीवोंसे आश्रय किये हुए (काया) शरीर (वहुगा वि) वहुत प्रकारके हैं तौभी (ते) वे शरीर (तेसिं) उन जीवोंको (खलु) वास्तवमें (मोहवहुलं) मोहगर्भित (फासं) स्पर्श इंद्रियके विषयको (देंति) देते हैं।

विशेषार्थ—यहां यह सूत्रका अभिप्राय है कि स्पर्शन इंद्रिय आदिसे रहित, अखंड एक ज्ञानका प्रकाशरूप आत्म-स्वरूप है उसकी भावनासे रहित होकर तथा अल्प संसारी सुखके लिये स्पर्श

इंद्रियके विषयमें लंपटी होकर इस जीवने जो स्पर्शनेंद्रिय मात्रको उत्पन्न करनेवाला एकेंद्रिय जाति नामा नामकर्म बांधा है उसीके उदयके कालमें यह संसारी जीव स्पर्शनेंद्रिय ज्ञान मात्र क्षयोपशमको पाकर एकेंद्री पर्यायमें मात्र स्पर्शके विषयके ज्ञानसे परिणमन करता है।

भावार्थ-यहां संसारी जीवोंमें जो एक स्पर्शन इंद्रिय मात्रकी सहायतासे जाननेवाले जीव हैं वे पांच प्रकार हैं। इनमें कर्मफल-चेतना की प्रधानता है। यद्यपि गौणतासे ये भी रागद्वेप पूर्वक अपनी शक्ति अनुसार अपने पोपण निमित्त कुछ कर्म करते हैं तथापि इनका कर्म प्रगट नहीं होता है। वृक्ष अपनी पुष्टिके लिये पानी व मिट्टीको नीचेसे लेकर सर्व शरीर मात्रमें पहुंचाता है। वृक्षोंमें नाड़ी है, वे अन्य जन्तुओंके समान जीते हैं, उनपर विष व मद्यका बुरा असर पड़ता है यह वात आजकल विज्ञान (सायन्स) ने प्रयोग करके सिद्ध कर दी है। सर्वज्ञके आगममें सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन चारोंमें भी जीवोंका निवास माना है सो सायन्सकी खोजमें कभी न कभी आजायगा। गीली मिट्टी खेत व खानकी सचित्त है, वही जब सूख जाती है तव जीव रहित अचित्त होजाती है। कूएं, वापिका, नदीका पानी जो वहता हुआ शीतल है वह जीव सहित सचित्त है वही पानी यदि गर्म होजावे व गर्म कर दिया जावे व छिन्न भिन्न किया जावे व कषायले पदार्थसे मिलाया जावे तो जीव रहित अचित्त हो जाता है। जलता हुआ अग्निका चिनगारा व जलती हुई लौ सचित्त है। यदि कोयला मात्र गर्म हो लौ न उठती हो तो जीव रहित अचित्त अग्नि है। पवन यदि ठंडी है तो सचित्त है, यदि गर्म है या बारबार रगड़ खाई

हुई है तो अचित्त होजाती है। वनस्पति भी सूखनेसे व छिन्नभिन्न करनेसे व पकनेसे अचित्त होजाती है। इन एकेंद्रिय जीवोंके चार प्राण होते हैं जिनसे ये जीते हैं, उनके वियोगसे ये मर जाते हैं। स्पर्शनेंद्रिय, काय बल, आयु और श्वासोछ्वास। यह सब कोई जानते हैं कि हवाके विना वृक्ष कभी जी नहीं सक्के, इसी तरह मिट्टी भी हवा विना मर जायगी तथा जल भी हवा विना सड़ जायगा व अग्नि भी हवा विना बुझ जायगी। इसीसे सिद्ध है कि जैसे हम हवा विना जी नहीं सक्के वैसे ये भी नहीं जी सक्के इसलिये ये प्राणी हैं। ये एकेन्द्री जीव स्पर्शनेंद्रियसे स्पर्शका ज्ञान करते हुए साताकारी स्पर्शसे सुख व असाताकारी स्पर्शसे दुःख मान लिया करते हैं। यद्यपि ये स्पर्श योग्य पदार्थोंके नामादि नहीं जानते हैं तथापि ज्ञानशक्तिसे विषयको जानते हैं और मोह व रागके कारण दुःखी या सुखी होते हैं। इन जीवोंके भी चार संज्ञाएं पाई जाती हैं—१ आहार—भोजनकी इच्छा, २ भय—अपनी रक्षार्थ भय, ३ मैथुन—स्पर्श करनेका राग—इनके नपुंसक वेद होता है—दोनों ही स्त्री पुरुष संबंधी रागभाव होता है। किसीके पुरुष सम्बन्धी भाव अधिक, किसीके स्त्री सम्बन्धी भाव अधिक होता है, ४ परिग्रह—अपने शरीर व अपने पुष्टिके कारण पदार्थमें ममता—वृक्षोंके भीतर ये बातें दीख पड़ती हैं। वे भोजनकी इच्छासे मिट्टी या पानीको खींचते हैं। कुल्हाड़ी मारे जानेपर भयवान होते हैं, एक वृक्षका अंग दूसरे अंगसे मैथुनरूप मिलता है तब ही वृक्षमें फूल आता है जैसे स्त्री पुष्पवती होती है और वही फूल फिर फलकी दशामें परिणमन कर जाता है—जो बातें हम एक दो इन्द्री या ते इन्द्री जीवमें जो चल फिर सक्ता है देखते

हैं कि वह भयसे भागता है, परस्पर दो जंतु मैथुन रूप मिल जाते हैं—आहार खोजते हैं—वे ही सब बातें वृक्षादि एकेंद्रियोंमें होती हैं, मात्र रसनादि इंद्रिय और वचनबल इन वृक्षादिमें नहीं होता है।

स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे ये स्थावर हैं। ये स्वयं बुद्धिपूर्वक गमन करते व ठहरते नहीं दीख पड़ते हैं जैसे और कीट आदि स्वयं चलते व ठहरते दिखाई पड़ते हैं, ये अपने स्वभावसे कोई ठहरे रहते कोई चलते रहते हैं।

तत्वार्थसारमें इन स्थावरोंके कुछ दृष्टांत दिये हैं—

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च ॥ ५८ ॥
रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलं।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम् ॥ ५९ ॥
किरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च वादराः।
गोमेदो रुचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितः प्रभः ॥ ६० ॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा ॥ ६१ ॥
मोठो मसारमल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।
षड्त्रिंशत्पृथिवीभेदाः भगवद्भिर्जिनेश्वरैः ॥ ६२ ॥
अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः ॥ ६३ ॥
ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः ॥ ६४ ॥
महान् घनतनुश्चैव गुंजामंडलिरुत्कलिः।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ॥ ६५ ॥
मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा।
सम्मूर्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः ॥ ६६ ॥

भावार्थ-छत्तीस प्रकारके पृथ्वीकायिक जीव होते हैं। संस्कृतमें जो नाम हैं उनका भावार्थ जो समझमें आया सो नीचे लिखा जाता है। १ मिट्टी, २ बालू, ३ शर्करा या कंकड़, ४ उपल या पाषाण, ५ शिला, ६ लवणोदक या लवण, ७ ताम्बा, ८ त्रपु या एक प्रकारका शीशा, ९ सीसक, १० चांदी, ११ सोना, १२ हीरा, १३ हरताल, १४ हिंगुल, १५ मनःशिल, १६ तूथिया, १७ अंजन, १८ प्रवाल, १९ किरोलक, २० अभ्रक, २१ बादरमणि, २२ गोमेद, २३ रुचकांक, २४ स्फटिक, २५ लोहा, २६ वैडूर्य, २७ चन्द्रकांत, २८ जलकांत, २९ सूर्यकांत, ३० गेरू, ३१ चन्दन, ३२ वर्चूर, ३३ रुचक, ३४ मोठ, ३५ मसार, ३६ गड्ड।

जल कायिक जीवके दृष्टान्त हैं-ओस, बर्फकी बूंद, शुद्ध जल, मेघजल, शीतक आदि।

अग्निकायिक जीवके दृष्टांत हैं-जलता अंगारा, अर्चि या दीपककी लौ, मुर्मर।

पवनकायिक जीवके दृष्टांत हैं-घनवायु, तनुवायु, गुंजा, मंडलि, उत्कलि-इत्यादि।

वनस्पतिकायिक जीव मूल, अग्रभाग, पर्व या पोरी, कन्द, स्कन्ध, बीजसे पैदा होनेवाले या संमूर्छन होते हैं। ये दो प्रकारके हैं-एक प्रत्येक, दूसरे अनन्तकायिक या साधारण। प्रत्येक वनस्पतिमें एक कायका स्वामी एक होता है जबकि साधारण वनस्पतिमें एक कायके स्वामी अनंत होते हैं।

उत्थानिका-आगे व्यवहारसे अग्नि और वायुकायिक जीवोंको त्रस नामसे कह सक्ते हैं ऐसा दिखाते हैं-

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥ ११९ ॥

त्रयः स्थावरतनुयोगादनिलानलकायिकाश्च तेषु त्रसाः ।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ॥११९॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तेसु) इन पांचोंमेंसे (तित्थावर-तणुजोगा) तीन कायिक अर्थात् पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय स्थिर शरीर होनेके कारणसे स्थावर हैं (य) तथा (अणिलाणलकाइया) वायुकाय और अग्निकाय धारी जीव (तसा) त्रस जीव कहलाते हैं। (एइंदिया जीवा) ये एकेन्द्रिय जीव (मणपरिणामविरहिदा) मनके परिणमनसे रहित असैनी हैं ऐसा (णेया) जाननेयोग्य है ।

विशेषार्थ-स्थावर नामकर्मके उदयसे भिन्न तथा अनंतज्ञा-नादि गुण समूहसे अभिन्न जो आत्मतत्त्व है उसके अनुभवसे शून्य जीवने जो स्थावर नामकर्म बांधा है उसके आधीन होनेसे यद्यपि अग्नि और वायुकायिक जीवोंको व्यवहारनयसे चलनापना है तथापि निश्चयनयसे ये स्थावर ही हैं-

भावार्थ-इस गाथामें स्थावरके अर्थ ठहरे हुए व त्रसके अर्थ चलनेवाले मानकर पृथ्वी, जल और वनस्पतिको मात्र स्थावर और वायु तथा अग्निको त्रस कहा है-परन्तु स्थावर नामकर्मके उद-यकी अपेक्षासे ये पांचों ही स्थावर हैं-त्रस द्वीन्द्रियादि हैं । जैसा श्री उमास्वामी महाराजने तत्वार्थसूत्रमें कहा है—

"पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ २ ॥
'द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥ २ ॥"

श्रीगोमट्टसार जीवकांडमें स्थावरोंके पांच भेद कहे हैं—

पुढवो आऊ तेऊ वाउ कम्मोदयेण तत्थेव।
णियवण्णचउक्कजुदो ताणं देहो हवे णियमा ॥१८४॥
उदये दु वणफदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं ॥ १८५ ॥

भावार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, रूप, स्थावर नामकर्मके भेदोंकि उदयसे जीवोंके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, रूप परिणये जो पुद्गल स्कंध उनमें अपने पृथ्वी आदि रूप वर्णादिक चतुष्क संयुक्त शरीर नियमकरि होते हैं। वनस्पतिरूप विशेषको धरे जो स्थावर नाम कर्मकी प्रकृति उसके उदयसे जीव वनस्पतिकायिक होते हैं, उनके दो भेद हैं—प्रत्येक और साधारण। प्रत्येकके दो भेद हैं—प्रतिष्ठित प्रत्येक, अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

ये पांचों ही थावर मन रहित होते हैं क्योंकि इनमें मन नो-इंद्रिय न होनेसे ये तर्क वितर्क नहीं कर सक्के न कारण कार्यका विचार पहलेसे कर सक्के हैं। ये स्पर्श इंद्रियके वशीभूत होकर उसीके विषयके जाननेमें निरंन्तर लीन हैं।

उत्थानिका—आगे ऐसा नियम करते हैं कि पांचों पृथ्वी-कायिक आदि एकेंद्रिय ही होते हैं—

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥१२०॥

एते जीवनिकायाः पंचविधाः पृथिवीकायिकाद्याः।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया भणिताः ॥ १२० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एदे) ये (पुढविकाइयादीया) पृथ्वीकायिक आदि (पंचविहा) पांच प्रकारके (जीवणिकाया) जीवोंके समूह (मणपरिणामविरहिदा) मनके भावोंसे शून्य (एगें-दिया जीवा) एकेंद्रिय जीव (भणिता) कहे गए हैं।

विशेषार्थ-वीर्यान्तराय और स्पर्शनेंद्रिय आवरण मतिज्ञानके क्षयोपशमके लाभसे तथा अन्य इंद्रिय आवरणके उदयसे तथा नोइंद्रिय आवरणके उदयसे ये जीव स्पर्शन इंद्रिय मात्रके धारी एकेंद्रिय होते हैं। यहां यह अभिप्राय है कि सर्व उपाधिसे रहित शुद्ध सत्ता मात्र पदार्थको कहनेवाली निश्चयनयसे यद्यपि जीव पृथिवी आदि पांच भेदोंसे शून्य हैं तथापि व्यवहारनयसे ये जीव एकेन्द्रिय जाति नामा नामकर्मके उदयसे मनरहित एकेन्द्रिय होते हैं। इस एकेन्द्रिय जाति नामकर्मका वन्ध तव होता है जब शुद्ध मनमें प्राप्त स्वसंवेदन ज्ञान न होकर अशुद्ध मनमें होनेवाला राग आदि रूप अपध्यान होता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह नियम कर दिया है कि ये पांच स्थावरकायधारी जीव जो सब मिलके अनन्तानन्त हैं मात्र एक स्पर्शनेन्द्रियके धारी मनरहित होते हैं। वनस्पतिकायिक जीवोंमें ही निगोद जीव गर्भित हैं। उसके दो भेद हैं-एक नित्य निगोद, दूसरा इतर या चतुर्गति निगोद। नित्य निगोदमें जीवोंकी अक्षय और अनंतराशि है, जो सदासे निगोद पर्यायमें ही पड़े हुए साधारण वनस्पति रूपमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंके वशीभूत हो संसारके कष्टोंको व जन्म मरणको पुनः पुनः उसी जातिकी पर्यायमें भोगते रहते हैं। यह निगोद जीवोंकी खान है। यहांसे छः मास आठ समयमें छः सैं आठ जीव निकल-कर अन्य पर्याय धारण करते हैं यह नियम है। इतर निगोद वह है कि नित्य निगोदसे निकले हुए जीव चारों गतिमें भ्रमण करते२ पाप कर्म बांध जब फिर निगोदमें जाकर जन्मते हैं, उन जीवोंको

इतर निगोद या चतुर्गति निगोद शरीरधारी कहते हैं। वृत्तिकारने कहा है कि जो मानव आत्माके अनुभवको न पाकर रागी, द्वेषी, होते हुए दूसरेकी हानिमें हर्ष व वृद्धिमें द्वेष भाव रखते हुए अपध्यान करते हैं वे एकेंद्रिय जाति नामा नामकर्म बांधकर अन्य पर्यायमें एकेंद्रिय जन्मते हैं। दूसरे स्वर्ग तकके देव अन्य देवोंसे ईर्षाभाव रखनेके कारण व सम्पत्तिके वियोगसे आर्त्तध्यान करनेके कारण मरकर एकेंद्रिय जन्म धारण कर लेते हैं।

जैसा तत्त्वार्थसारमें श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने कहा है—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः।
तिर्यक्त्वमानुषत्वाभ्यामासहस्रारतः पुनः॥ १६६॥२॥

अर्थात् ईशान स्वर्ग तकके देव एकेंद्रिय तकका जन्म धारण कर सक्ते हैं तथा बारह स्वर्ग तकके देव पंचेन्द्रिय पशु तथा मनुष्य हो सक्ते हैं।

उत्थानिका—आगे पृथिवीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवोंमें चेतना गुण है इसके बतानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया॥ १२१॥

सं०—अंडेषु प्रवर्द्धमाना गर्भस्था मानुषाश्च मूर्च्छां गताः।
यादृशास्तादृशा जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः॥ १२१॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जारिसया) जिस प्रकार (अंडेसु) अंडोंमें (पवड्ढंता) बढ़ते हुए, (गब्भत्था) गर्भमें तिष्ठते हुए (य) और (मुच्छगया) मूर्छाको प्राप्त हुए (माणुसा) मनुष्य जीते हैं (तारिसया) उसी तरहसे (एगेंदिया जीवा) एकेन्द्रिय जीव (णेया) जानने योग्य हैं।

विशेषार्थ-जैसे अंडोंके भीतरके तिर्यंच व गर्भस्थ पशु या मनुष्य या मूर्छागत मानव इच्छापूर्वक व्यवहार करते नहीं दिखते हैं तैसे इन एकेंद्रियोंको जानना चाहिये परन्तु अंडोंमें जन्मनेवाले प्राणियोंके शरीरकी पुष्टि या वृद्धिको देखकर बाहरी व्यापार करना न दीखनेपर भी भीतर चैतन्य है ऐसा जाना जाता है, यही बात गर्भमें आए हुए पशु या मानवोंकी भी है। गर्भ बढ़ता जाता है इसीसे चेतनाकी सत्ता मालूम होती है। मूर्छागत मानव तुर्त मूर्छा छोड़ सचेत होजाता है। इस ही तरह एकेंद्रियोंके भीतर भी जानना चाहिये। जब गर्भस्थ शरीर या अंडे या मूर्छा प्राप्त प्राणी म्लानित होजाते अर्थात् बढ़ते नहीं या उनके शरीरकी चेष्टा बिगड़ जाती तब यह अनुमान होता है कि उनमें जीव नहीं रहा उस ही तरह एकेंद्रिय जीव जब म्लानित या मर्दित होजाते हैं तब ये जीव रहित अचित्त होजाते हैं। यहां यह भाव लेना योग्य है कि यह जीव निश्चयनयसे स्वाधीनता सहित अनंतज्ञान तथा अनंतसुख धारी है तथापि व्यवहार नयसे पराधीन इंद्रिय सुखमें आशक्त होकर जो कर्म बांधता है उस कर्मके उदयसे अंडज आदिके समान एकेन्द्रिय होकर आत्माको दुःखोंमें पटक देता है।

भावार्थ-इस गाथामें यह बात सिद्ध की है कि वनस्पति, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, इन पांचो स्थावरोंके शरीरोंकी वृद्धि होती है। जैसे अंडोंकी व गर्भस्थ प्राणीके अंगोंकी बढ़ती देखकर जीवके अस्तित्वका ज्ञान होता है वैसे एकेंद्रियोंकी बढ़ती देखकर उनमें जीवकी सत्ता है ऐसा अनुमान करना चाहिये। जैसे अंडोंके व गर्भके प्राणी बिलकुल असमर्थ हैं-उनको कोई निर्दयी नष्ट करे

व वध करे व कष्ट दे व ताड़ें व गर्मी सरदी पहुंचावे तो वे जीव पराधीन हो सब सहते हैं—स्पर्शनेन्द्रियसे विषय ग्रहण कर मोह द्वारा द्वेषभाव उत्पन्न कर दुःखी होते हैं वैसे ही एकेंद्रिय जीव असमर्थ हैं—कोई उनको नष्ट करे, तोड़े, मरोड़े, दलमले, गर्मी शरदी पहुंचावे, काटे व तपावे तो वे अपनी रक्षा नहीं कर सक्के। असमर्थपनेसे पराधीन रहकर स्पर्शनेंद्रियसे जानकर व मोहके कारण द्वेषभाव जागृत कर सब कष्टोंको सहते हैं। मूर्छा प्राप्त मानवका दृष्टान्त मात्र बुद्धिपूर्वक व्यापार न करनेकी अपेक्षा एकेन्द्रियोंके लिये दिया गया है। एकेंद्रिय जीव दो प्रकारके होते हैं—सूक्ष्म और बादर। जो इंद्रियद्वारा ग्रहणमें न आवें व जो किसीसे बाधाको न पावें न स्वयं बाधा दें—पर्वतादिके भीतर भी हों व उनके भीतरसे निकल जासकें वे सब सूक्ष्म एकेंद्रिय हैं, तथा जो आधारमें हों व इंद्रियद्वारा ग्रहणमें आवें व बाधा करें व बाधाको पावें वे सब बादर एकेंद्रिय हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु साधारण वनस्पति अर्थात निगोद ये पांच प्रकारके एकेंद्रिय जो सूक्ष्म हैं वे तीन लोकमें सर्वत्र हैं। बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि व निगोद जीव जो बादर है उनमेंसे ही कुछ हमारी इंद्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आते हैं। प्रत्येक-वनस्पति बादर ही होती हैं। इनमें जिन प्रत्येक वनस्पतिके आश्रय निगोद या साधारण या अनन्तकाय वनस्पति जबतक रहती है तबतक वे सप्रतिष्ठित पत्येक व जब उनके आश्रय ये अनन्तकाय नहीं रहती है तब वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते हैं। श्री गोम्मटसारजीमें कहा है—

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहमा हवंति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहमं ॥ १८३ ॥

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स विदमाणं तु।
आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहमा ॥ १८४ ॥

भावार्थ—इन एकेंद्रियोंका शरीर वादर तथा सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे वादर तथा सूक्ष्म होता है। जिनका शरीर रुकनेवाला व घात किया जानेवाला व अन्यको रोकनेवाला व अन्यको घातक हो सके सो वादर शरीरधारी जीव होते हैं तथा जिनका शरीर दूसरेको घाते नहीं व दूसरेसे उनका घात हो नहीं वे एकेंद्रिय सूक्ष्म होते हैं। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार कायवाले एकेंद्रियोंके शरीर वहुत छोटे होते हैं। सामान्यपने दोनोंके वादर और सूक्ष्म भेदवाले इन चारोंके शरीर घनांगुलके असंख्यातवें भागसे वड़े कभी नहीं होते हैं तथा आधारमें अर्थात् अन्य पुद्गलोंके आश्रय जिनका शरीर हो वे वादर हैं तथा सर्व जगह लोकमें, जलमें या थलमें वा आकाशमें निरंतर आधारकी अपेक्षा विना जिनके शरीर हैं वे जीव सूक्ष्म हैं। जल थल रूप आधार करि इनके शरीरके गमनका नीचे ऊपर इत्यादि कहीं भी रुकना नहीं होता है। यहां निरंतरका अर्थ यह है कि वीचमें तीन लोकका कोई स्थान इन सूक्ष्म जीवोंसे खाली नहीं है। इससे पाठकोंको ज्ञान होजायगा कि लोकाकाश सर्वत्र जीवोंसे ठसाठस भरा हुआ है तथा इन पृथ्वी आदि चारोंका शरीर वहुत ही छोटा होता है। एक रत्तीभर मिट्टीमें, एक बून्द पानीमें, एक अग्निकी लवकमें, एक वायुके महीन झोंकेमें अनेक एकेन्द्रियोंके समूह हैं—ऐसा जानकर दयावालोंको इनका व्यवहार यत्नपूर्वक करना योग्य है। जिससे इनकी हिंसा कम हो, इसतरह वर्तना योग्य है। स्वछंद व निर्दयी हो इनका घात करना योग्य नहीं है।

एकेन्द्रिय प्राणियोंके घात करनेसे चार प्राणोंका घात होता है। वे चार प्राण हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, इनके वियोगका नाम मरण है। इस तरह पांच स्थावरोंके व्याख्यानकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे द्वीद्रिंय जीवोंके भेदोंको कहते हैं—

**संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।**
**जाणंति रसं फासं जे ते वे इंदिया जीवाः ॥ १२२ ॥**

शंवूकमातृवाहाः शंखाः शुक्तयोऽपादकाः च कृमयः।
जानन्ति रसं स्पर्शं ये ते द्वीन्द्रियाः जीवाः ॥ १२२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(संबुक्क) संबूक एक जातिका क्षुद्र शंख, (मादुवाहा) मातृवाह (संखा) संख (सिप्पी) सीप (य) और (अपादगा) पांव रहित (किमी) कृमी जैसे गिंडोला, कृमि, लट आदिक (जे) जो (रसं) रस या स्वादको व (फासं) स्पर्शको (जाणंति) जानते हैं (ते) वे (जीवा) जीव (वेइंदिया) द्वीन्द्रिय हैं।

विशेषार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव द्वीन्द्रियके स्वरूपसे पृथक् तथा केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अभिन्न अर्थात् तन्मय शुद्ध अस्तिकाय है। ऐसे शुद्ध आत्माकी भावनाके द्वारा जो सदा आनंदमई एक लक्षण सुख-रसका आस्वाद आता है उसको न पाकर स्पर्शन और रसना इंद्रिय आदिके विषयोंके सुखके रसास्वादमें मगन जीवोंने जो द्वीन्द्रिय जातिनामा नामकर्मका बंध किया था उस कर्मके उदय कालमें वीर्यांतराय और स्पर्शनेंद्रिय रसनेंद्रियके आवरण नामा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके लाभसे शेष इंद्रियोंके आवरण रूप कर्मोंके उदयपर तथा नोइंद्रिय

जो मन उसके आवरण रूप कर्मके उदय होनेपर ये जीव द्वीन्द्रिय विना मनके होते हैं।

भावार्थ–यहां गाथानें स्पर्श और रसना मात्र दो इंद्रियोंसे ही उपयोग द्वारा काम करनेवाले द्वीन्द्रिय जीवोंके कुछ दृष्टांत दिये हैं। इनके भी कारण तथा कार्यका सम्बन्ध तर्कद्वारा पहलेसे विचार करनेवाला मन नहीं होता है–ये भी अपनी दोनों इंद्रियोंके वशीभूत हो अनेक इच्छाओंको प्राप्त हो उनके लिये निरंतर चेष्टा क्रिया करते हैं। इनके रागद्वेष रूपी कर्म प्रगट दीखनेमें आते हैं इसलिये इनके कर्म चेतनाकी भी मुख्यता है। सुख दुःखके अनुभव रूप कर्मफल चेतना तो है ही। इन द्वीन्द्रिय जीवोंके एकेंद्रियोंकी अपेक्षा दो प्राण अधिक हैं–एक रसनाइंद्रिय एक वचन बल, इस तरह इनके छः प्राण हैं। इसलिये इनकी हिंसामें एकेंद्रियोंकी अपेक्षा अधिक दोष है। दयावानोंको इन जंतुओंपर भी दया रखनी चाहिये और यथाशक्ति इनकी रक्षा करनी योग्य है। तत्वार्थसारमें भी इनके उदाहरण इस तरह दिये हैं—

शम्बूकः शंखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः॥ ५३॥

भावार्थ–शम्बूक, संख, सीप, गंडूपद, कौड़ी, पेटके बल चलनेवाले कीड़े आदि द्वीन्द्रिय प्राणी हैं।

उत्थानिका–आगे त्रीन्द्रियके भेदोंको कहते हैं—

जूगागुंमीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा॥ १२३॥

यूकाकुंभीमत्कुणपिपीलिका वृश्चिकादयः कीटाः।
जानन्ति रसं स्पर्शं गंधं त्रीन्द्रियाः जीवाः॥ १२३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जूगा) जूं (गुंभी) एक विषैला कीट, (मक्कण) खटमल (पिपीलिका) चींटी (विच्छियादिया) विच्छू आदि (कीडा) कीड़े (रसं) स्वादको (फासं) स्पर्शको (गंधं) गंधको (जाणंति) जानते हैं इसलिये ये (तेइंदिया जीवा) तीन इंद्रियधारी जीव हैं।

विशेषार्थ-विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमई आत्म पदार्थके अनुभवसे उत्पन्न जो वीतराग परमानंदमई एक सुखामृत रस उसके स्वादसे रहित होकर तथा स्पर्शन, रसना व नासिका इंद्रियके विषयोंके सुखमें मूर्छित होकर जिन जीवोंने त्रीन्द्रिय जाति नामा नामकर्म बांध लिया है उसके उदयके आधीन होकर तथा वीर्यांतरायके और स्पर्शन, रसना, व घ्राणइंद्रिय सम्बंधी मतिज्ञानके आवरणके क्षयोपशमके लाभ होनेसे तथा शेष इंद्रियोंके मतिज्ञानावरणके उदय होनेपर तथा नोइंद्रिय जो मन उसके आवरणके उदय होनेपर तेंद्रिय जीव मनरहित होते हैं यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें तेंद्रिय जीवोंके कुछ दृष्टांत देकर यह बताया है कि वे स्पर्शन, रसना, व घ्राण इंद्रियके विषयोंमें लुब्ध हो मनके न होनेपर सत्य तत्त्वका विचार न करते हुए निरंतर इन तीन इंद्रियोंकी इच्छाओंकी तृप्तिमें लगे रहते हैं। ये जंतु इस जगतमें गृहस्थ सम्बंधी आरम्भ व व्यापारमें बहुत अधिक वध होते हैं तब वे महान कष्टसे प्राण गंवाते हैं। वृत्तिकारने यह भी बता दिया है कि जिन मानवोंकी अत्यन्त आसक्ति स्पर्शन इंद्रियके भोगमें, रसनासे स्वाद लेनेमें, व घ्राण द्वारा सुगंध लेनेमें होती है वे मिथ्यादृष्टी निजात्मानुभवको न पाकर त्रींद्रिय जाति नामा कर्म बांधकर उसके फलोदयमें तेंद्रिय जीव जन्मते हैं। इनके अन्य इंद्रिय तथा मन

द्वारा जाननेकी शक्ति नहीं होती है। वास्तवमें इंद्रियाधीनपना पाप बन्धका कारण है। श्रीकुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम्।
तच्च कर्मविबन्धाय दुःखदानैकपंडितम् ॥७७॥

भावार्थ—इंद्रियोंके द्वारा जो सुख है वह सच्चा सुख नहीं है वह सुखका आभास है, मात्र सुखसा मालूम पड़ता है। यह इंद्रिय सुख कर्मोंका बांधनेवाला है तथा दुःखोंके देनेमें प्रवीण है।

तत्वार्थसारमें भी तेंद्रिय जीवोंके उदाहरण इस तरह बताए हैं—

कुन्थुःपिपीलिकाकुम्भीवृश्चिकश्चेन्द्रगोपकाः।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥ ५४ ॥

भावार्थ—कुन्थु, चींटी, कुम्भी, बिच्छू, इन्द्रगोपक, घुन, खटमल, जूं आदि तीन इंद्रियके धारी जंतु होते हैं। ये सब भी कर्मफल चेतनासे सुखी व दुःखी अपनेको मानते हैं तथा अपने इंद्रियोंकी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिये रागद्वेष पूर्वक काम करते हुए कर्मचेतनाका अनुभव करते हैं।

उत्थानिका—आगे चार इन्द्रियधारी जीवोंके भेद बताते हैं—

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति ॥ १२४ ॥

उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः पतंगाद्याः।
रूपं रसं च गंधं स्पर्शं पुनस्तेऽपि जानन्ति ॥ १२४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(उद्दंस) डांस, (मसय) मच्छर, (मक्खि) मक्खी, (मधुकर) मधुमक्खी, (भमरा) भौंरा (पतंगमादीया) पतंग आदिक ( रूपं ) वर्णको, (रसं) स्वादको (च) और ( गंधं )

गंधको, (पुण) तथा (फासं) स्पर्शको (जाणंति) जानते हैं ( ते वि ) वे ही चौइन्द्रिय जीव हैं।

विशेषार्थ—जो मिथ्यादृष्टी जीव निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी भावनासे उत्पन्न जो सुख रूपी अमृतका पान उससे विमुख हैं तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदि इंद्रियोंके विषयोंके सुखके अनुभवमें लीन हैं वे चौइंद्रिय जाति नामा नामकर्म बांधते हैं। इस नाम कर्मके उदयके आधीन होकर तथा वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इंद्रियका आवरणरूप मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमके लाभसे और नोइन्द्रियके आवरणके उदयसे चारइन्द्रियधारी मन रहित होते हैं, यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें चारइन्द्रिय धारी जीवोंके दृष्टांत हैं। तत्वार्थसारमें भी इस तरह बताया है—

**मधुपः कीटकोदंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।**
**वरटाशलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥ ५५ ॥**

भावार्थ—मधुमाखी, कीटक, डांस, मच्छर, मक्खी, भिड़, टीड़ी आदि चार इंद्रिय जीव होते हैं। जो अज्ञानी इंद्रियोंके विषयोंके अति लोलुपी होते हैं वे ही ऐसा नामकर्म बांधते हैं जिससे चार इन्द्रिय जीव होते हैं। जो निगोदसे निकल कर पृथ्वीकायादि होते होते द्वीन्द्रियसे तेइन्द्रिय व तेइन्द्रियसे चौइन्द्रि होते हैं उनके कषायके उदयकी मंदतासे जब कभी ऊंची जातिका नामकर्म बन्ध जाता है तब वे ऊंची स्थितिमें जन्म पाते हैं। सो ऐसा दीर्घकालान्तर कभी किसीको अवसर मिलता है। हमको विचारना यह चाहिये कि हमने बहुत भ्रमण करते हुए किसी मंदकषायसे बांधे

हुए पुण्यके प्रतापसे जब पंचेन्द्रिय सैनी मानव जन्म पाया है तब हम ऐसा कार्य फिर न करें जिससे हम पंचेन्द्रियसे चौइन्द्री आदि होजावें। इस वर्तमान जीवनको दुर्लभ रत्नके समान समझकर इसकी सफलता आत्मकल्याणके पुरुषार्थसे कर लेनी चाहिये। मानव जीवनको निरर्थक खो देनेसे फिर ऐसा समय मिलना कठिन होगा। एक समय भी धर्म भावना विना न गमाना चाहिये।

श्रीकुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

क्षणेऽपि समतिक्रान्ते सद्धर्मपरिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः॥ ५९॥
धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव।
आयुःकर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि॥६०॥
धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्म चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत्॥ ६१॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः॥ ६२॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा॥ ६३॥

भावार्थ—मैं ऐसा मानता हूं कि जो एक क्षण भी सत्य धर्मकी सेवा विना वीतता है उससे कषाय व इन्द्रियरूपी चोरोंके द्वारा मैंने आपको ठगा लिया है। जबतक तेरी आयु दृढ़ है तबतक धर्मकार्यमें बुद्धि रख। जब आयु कर्मका क्षय होजायगा तब तू क्या करेगा? धर्मको यत्नसे साधनकर, मृतकके समान मत रह। जिनके चित्तमें सत्य धर्म वसता है उनहीका जीवन सफल है। जो मानव धर्मको आचरण करनेवाले हैं वे मरजानेपर भी नहीं मरे हैं तथा जो मानव पाप काम करनेवाले हैं वे जीते हुए भी मरे हुए हैं।

इसलिये दुःखरूपी रोगोंको नाश करनेवाले धर्मरूपी अमृतको सदा पीना चाहिये जिसके पीनेसे जीवोंको सदा उत्तम सुख मिलता है।

इसतरह विकलेन्द्रियके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे पंचेन्द्रियके भेदोंको कहते हैं—

**सुरणरणारयतिरिया वण्णरसफ्फासगन्धसद्दण्हू।**
**जलचरथलचरखचरा वलिया पंचेन्दिया जीवाः ॥१२५॥**

सुरनरनारकतिर्यंचो वर्णरसस्पर्शगन्धशब्दज्ञाः।
जलचरस्थलचरखचरा वलिनः पंचेन्द्रिया जीवाः ॥ १२५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(सुरणरणारयतिरिया) देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच (जलचर थलचर खचरा) जो जलचर, भूमिचर तथा आकाशगामी हैं (वलिया) ऐसे वलवान (जीवा) जीव (वण्णरसफ्फासगंधसद्दण्हू) वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको समझनेवाले (पंचेंदिया) पंचेंद्रिय होते हैं।

विशेषार्थ—वृत्तिकारने यह अर्थ किया है कि तिर्यंच पंचेन्द्रियोंमें कोई२ बड़े बलवान होते हैं जैसे जलचरोंमें ग्राह, थलचरोंमें अष्टापद, खचरोंमें भेरुंडपक्षी। जो वहिरात्मा जीव दोष रहित परमात्माके ध्यानसे उत्पन्न निर्विकार तात्त्विक आनन्दमई सुखसे विपरीत इन्द्रिय सुखमें आसक्त हैं वे पंचेन्द्रिय जाति नामका नामकर्म वांध लेते हैं। उसके उदयको पाकर, वीर्यांतराय कर्म, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्णइन्द्रिय ज्ञानके आवरण कर्मके क्षयोपशमके लाभसे तथा नोइन्द्रिय जो मन, उसके द्वारा ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मके उदय होनेपर कोई जीव पंचेन्द्रिय मन रहित होते

हैं तब वे शिक्षा, वार्तालाप, व उपदेश ग्रहणकी शक्तिसे शून्य होते हैं तथा कोई नोइन्द्रिय ज्ञानके आवरणके क्षयोपशमके लाभसे भी मन सहित सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं। इन पंचेन्द्रिय जीवोंमें नारकी, मनुष्य और देव तो सब सैनी ही होते हैं–पंचेन्द्रिय तिर्यंच सैनी और असैनी दो भेदरूप हैं। तथा एकेन्द्रियसे ले चार इन्द्रिय तक तो सब असैनी ही होते हैं। यहां किसीने शंका की कि असैनी जन्तुओंके भी क्षयोपशम ज्ञानसे विचार होता है तथा क्षयोपशमसे उठनेवाले विकल्पको ही मन कहते हैं यह विकल्प जब असैनीको है तब उनको असैनी क्यों कहा है इसका समाधान वृत्तिकार कहते हैं कि असैनीको कार्य कारणकी व्याप्तिका ज्ञान नहीं होता है–वे पहलेसे हरएक विषयमें यह नहीं विचार कर सके कि ऐसा करनेसे यह लाभ होगा व यह हानि होगी–असैनी जीव अपने २ स्वभावसे विना हानि लाभ विचारे काम करते हैं जैसे–चींटी गन्धके विषयमें व आहार आदि संज्ञा रूपसे जो चतुराई रखती है वह उसके जातिस्वभावसे है, अन्य विषयोंमें उसका ज्ञान विचार नहीं कर सक्ता है। मनमें यह शक्ति है कि तीन जगत व तीन काल सम्बन्धी व्याप्तिज्ञान रूप केवलज्ञानमें जो परमात्मा आदि तत्त्व जाने गए हैं उनको परोक्ष रूपसे जान सक्ता है इसलिये वह केवलज्ञानके समान है, यह भावार्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें पांच इन्द्रियधारी जीवोंके उदाहरण हैं। जो मतिज्ञानावरणके क्षयोपशम व वीर्यांतरायके क्षयोपशमसे ऐसी शक्ति आत्मामें प्रगट कर पाते हैं जिससे वे पांचों इंद्रियोंसे ज्ञान कर सके हैं–एकेन्द्रियसे ले चार इन्द्रियतक तो जीव सब तिर्यंच

ही होते हैं, पंचेन्द्रियोंमें भी चार इन्द्रियके समान मन रहित असैनी तिर्यंच होते हैं तथा इन तिर्यंचोंमें सैनी तिर्यंच भी होते हैं। वे तीन प्रकारके होते हैं-जो पानीमें पैदा होते व जीते हैं जैसे-मछली, ग्राह आदि जलचर। जो चार पदवाले घूमते हैं जैसे गाय, वलध, घोड़ा, ऊंट, हाथी, कुत्ता, हिरण ऐसे थलचर तथा जो आकाशमें उड़ते हैं जैसे कबूतर, मोर, काक, चील, तोता, मेना ऐसे आकाशचर असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके दृष्टांत किसी शास्त्रमें देखनेको नहीं प्राप्त हुए। ऐसा सुना जाता है कि समुद्रमें कोई जातिके सर्प होते हैं वे असैनी होते हैं तथा जंगलमें सन्मूर्छन उत्पन्न होनेवाले तोते व मूषक असैनी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी सब मन सहित तिर्यंच होते हैं। जिनके मन होता है वे ज्ञानमें वहुत वली होते हैं-वे पहलेसे ही हानि व लाभ विचारकर कामकरते हैं, क.ीं भयका कारण मालूम हो तो पहलेसे ही नहीं जाते हैं, उपकारीको पहचानकर उसके साथ उपकार करते हैं तथा जो हानिकारक मालूम होता है उसके नाशका उद्यम करते हैं, यदि कोई संकेत किया जावे तो समझ लेते हैं। यदि शिक्षा दी जावे तो ग्रहण कर लेते हैं। तर्क वितर्क कर सक्ते हैं। जीव आदि सूक्ष्म पदार्थोंको भी जान सक्ते हैं। जिनके मन नहीं होता वे इन वातोंसे रहित होते हुए अपनी इन्द्रियोंके विषयोंके वशीभृत होते हुए आहारकी इच्छासे आहार ढूंढ़ते हैं, भय मालूम होनेपर भागते हैं, मैथुनके भावसे एक दूसरेको स्पर्श करते हैं, परिग्रहके भावसे मूर्छावान या शरीरमें व अपनी संग्रह की हुई वस्तुमें अनुरागी होते हैं-मन सहित हिरण वनमें अग्नि लगी हुई जानकर पहलेसे ही वच जायगा,

उधर जायगा नहीं जब कि मनरहित एक पतंगा दीपकमें एक दूस-रेको जलते हुए देखकर भी यह न विचार कर सकेगा कि मुझे दीपकके पास न जाना चाहिये किन्तु फिर भी आंखके विषयका प्रेरा चला जायगा। तत्वार्थसारमें संज्ञीका लक्षण ऐसा ही कहा है—

यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञो स उच्यते।
अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञो कथितो जिनैः ॥६३॥

भावार्थ—जो शिक्षा, व क्रियारूप अर्थको ग्रहण करनेवाला है वह मनसहित संज्ञी है। जो इससे विपरीत है वह मनरहित असंज्ञी है।

श्रीगोम्मटसारजीमें कहा है—

सिक्खाकिरियुवदेसा लावग्गाही मणोवलंवेण।
जो जीवो सो सण्णो तव्विवरीओ असण्णी दु ॥६६१॥
मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।
सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥६६२॥

भावार्थ—हित अहितको करने व छोड़नेरूप शिक्षा, हाथपगको इच्छासे चलावने आदिरूप क्रिया, चामड़ी आदि संकेत करके उपदेश किया हुआ वध विधानादि सो उपदेश, श्लोकादिका पाठ सो अलाप, इनका समझनेवाला जो मन उसके अवलम्बनसे मनुष्य, बैल, हाथी, तोता इत्यादि जीव सो संज्ञी नाम हैं। इस लक्षणसे उल्टा लक्षण-धारी जीव सो असंज्ञी है। जो पहले कर्तव्य अकर्तव्यकी मीमांसा करें, विचारें, तत्त्व कुतत्त्वको सीखें, नामसे बुलाया हुआ आजाय सो जीव मनसहित सेनी है। जो इससे उल्टा हो वह असैनी है।

उत्थानिका—आगे एकेन्द्रिय आदिके भेदसे जिन जीवोंको कहा है उनके चार गति होती हैं ऐसा कहते हैं—

**देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।**
**तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥ १२६ ॥**

देवाश्चतुर्निकायाः मनुजाः पुनः कर्मभोगभूमिजाः ।
तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः नारकाः पृथिवीभेदगताः ॥ १२६ ॥

**अन्वय सहित सामान्यार्थ**-(देवा) देवगतिवाले जीव (चउण्णिकाया) चार समूह रूपसे चार प्रकार हैं। (पुण) और (मणुया) मनुष्य (कम्मभोगभूमीया) कर्मभूमि और भोगभूमिवाले हैं। (तिरिया) तिर्यंच गतिवाले ( बहुप्पयारा ) बहुत तरहके हैं ( णेरइया ) नारकी (पुढविभेयगदा) पृथ्वीके भेदके प्रमाण हैं।

**विशेषार्थ**-देवोंके चार समूह हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। मनुष्योंके दो भेद हैं-एक वे जो भोगभूमिमें जन्मते हैं। दूसरे वे जो कर्मभूमिमें पैदा होते हैं। तिर्यंच बहुप्रकार हैं। पृथ्वी आदि पांच एकेन्द्रिय तिर्यंच हैं। शम्बूक आदि दो इन्द्रिय, जूंआदि तीन इन्द्रिय, डांस आदि चार इन्द्रिय ऐसे तीन प्रकार विकलत्रय तिर्यंच हैं। जलमें चलनेवाले, भूमिमें चलनेवाले तथा आकाशमें उड़नेवाले ऐसे द्विपद चौपद आदि पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। रत्न, शर्करा, वालुका, पंक, धूम, तम, महातम, ऐसी सात पृथिवी हैं जिनमें सात नरक हैं उनमें निवासी नारकी हैं। यहां सूत्रका भाव यह है कि जो जीव सिद्ध गतिकी भावनासे रहित हैं अथवा सिद्धके समान अपना शुद्ध आत्मा है इस भावनासे शून्य हैं उन जीवोंने जो नरकादि चार गति रूप नामकर्म बांधा है उसके उदयके आधीन ये जीव देव आदि गतियोंमें पैदा होते हैं।

**भावार्थ**-इस गाथामें यह दिखलाया है कि चार तरहकी

गति या जीवनकी अवस्था जगतभरमें पाई जाती है। कर्मबंधन सहित जीव इनमेंसे किसी अवस्थाको धारण करता हुआ संसारके दुःख और सुखोंको भोगता है और रागद्वेष मोहके कारण नए कर्मोंको बांधता है। जैन सिद्धांतमें चार आयु कर्म व चार ही गति नामके नाम कर्म बताए हैं। जब एक जीव किसी शरीरको त्यागता है तब आगेके लिये जैसा आयु कर्म बांधा होता है उस ही आयुका व तदनुकूल गतिका उदय होजाता है-इनहीके उदयकी प्रेरणासे विशेष गतिकी ओर खिंचा हुआ चला जाता है। आयुके उदयसे किसी गतिमें बंधा रहना होता है व गतिके उदयसे किसी गतिमें बंधा रहना होता है व गतिके उदयसे विशेष अवस्था प्राप्त होती है। एक जीव चारमेंसे एक ही प्रकारकी आयुका बंध आगेके लिये करता है यद्यपि गतिमें चारोंका ही बंध अपने परिणामोंके अनुसार करता रहता है तथापि जिस आयुका उदय शुरू होता है उस ही गतिका उदय उस आयुके साथ हो जाता है। देवोंकी अवस्था विशेष पुण्यके उदयसे अन्योंसे विलक्षण होती है। अस्थि, मांस, रुधिर रहित दिव्य चमकते हुए आहारक वर्गणाओंका बना हुआ उनका वैक्रियिक शरीर बहुत सुडौल परम सुन्दर मनुष्यके आकार पांच इन्द्रिय और मनः हित होता है। हाथ, पग, मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण, मस्तक आदि सब मनुष्यके समान आकारके होते हैं। उनके सींग, पूछ आदि वीभत्स व कई हाथ, पग आदि ऐसा रूप नहीं होता है। उनमें इस जातिका कर्मका उदय होता है जिससे वे अपने शरीरके कई शरीर व चाहे जैसे अच्छे या बुरे शरीर बना सक्ते हैं-पुण्यके उदयसे उनको श्वास बहुत देर पीछे

आता है तथा भूख भी बहुत दिनों पीछे लगती है। यदि एक सागरकी आयु हो तो पंद्रह दिन पीछे श्वास होगा व एक हजार वर्ष पीछे भूख लगेगी। उनको बाहरसे कोई वस्तु खानेकी जरूरत नहीं पड़ती न उन्हें मुख चलाना पड़ता है–उनके कंठमें ऐसी कुछ शुभ वर्गणाएं होती हैं जिनसे अमृतकी बूंदें झड़ जाती हैं और तुर्त भूख मिट जाती है। इनके शरीरमें रोग, व निगोदिया जीव नहीं होते–कामसेवनकी इच्छा भी उच्च देवोंमें कमती कमती होती है। सोलह स्वर्गके ऊपर अहमिंद्र देवोंमें बिल्कुल इच्छा होती ही नहीं, न वहां देवियां ही होती हैं। देवोंमें कोई देव किसी अन्य देवकी देवीके साथ कुशीलभाव नहीं करता है न एक दूसरेकी सम्पत्ति चुराते हैं, अपने२ पुण्यके उदयसे प्राप्त है उसहीमें सन्तोष रखते हैं–उनमें जो देव सम्यग्दृष्टि नहीं होते उनके चित्तमें एक दूसरेकी सम्पत्ति देखकर ईर्षाभाव होता है तथा बड़े देवोंकी आज्ञानुसार छोटे देवोंको सेना, वाहन आदिका रूप धारण करना पड़ता है इस कारण उनके चित्तमें मानसिक दुःख रहता है तथा जब आयुमें छः मास शेष रहते हैं तब उनके आभूषणादिकी कांति उनको मंद मालूम पड़ती है तब वे अवधिज्ञानसे अपना मरण होना निश्चय करके यह सब सम्पत्ति छूट जायगी ऐसा ध्यानमें लेकर आर्तध्यान करते हैं तब वे तिर्यंच आयु बांधकर मध्य लोकमें आकर पृथ्वी, जल, तथा वनस्पतिकायिक जीव हो जाते हैं या पंचेन्द्री सैनी पशु होजाते हैं। देवोंमें इंद्रियोंके भोगकी सामग्री बहुत होती है और एक प्रकारका भोग एकइन्द्रिय द्वारा एक समयमें होता है अतएव उनके इसको छोड़ दूसरेको, दूसरेको छोड़ तीसरेको भोग-

भेकी बहुत आकुलता रहती है। देवियोंकी आयु देवोंके मुकाबले थोड़ी होती है-सोलहवें स्वर्गकी देवीकी आयु पचपन पल्यकी होती है तब वहां बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु देवकी होती है और एक सागर दश कोड़ाकोड़ी पल्यका होता है इस कारण एक देवको अपनी नियोगिनी बहुतसी देवियोंका मरण पुनः पुनः देखना पड़ता है जिसका वियोग उनके चित्तमें रहता है। देवगतिमें भी जो मिथ्यादृष्टी व विषयलम्पटी हैं वे दुःखी हैं-वहां भी वे ही सुखी व संतोषी रहते हैं जो सम्यग्दृष्टि और तत्त्वज्ञानी हैं। जैसे देवगति पुण्यके उदयको जीवके साथ अनगिनती वर्षोंतक रखती है वैसे ही नरकगति पापके उदयको अनगिनती वर्षोंतक रखती है। नरककी सात पृथिवियां हैं, उनमें नारकी महा भयानक शरीरके आकार रखनेवाले पंचेन्द्रिय सैनी पैदा होते हैं। मूलमें उनके भी शरीरका आकार मनुष्यके समान होता है, परन्तु उनमें अपने ही शरीरको अनेक आकार रूप बदलनेकी शक्ति है। इससे वे इच्छानुसार सिंह, स्याल, भेड़िया आदि अनेक भयानक पशुका रूप रखलेते हैं। नारकी एक दूसरेको देखकर क्रोधित होजाते हैं और परस्पर एक दूसरेको नाना प्रकार दुःख देते हैं। नरककी भूमि बड़ी दुर्गंधमय होती है, पानी महा खारी होता है। वे नारकी निरंतर भूख प्यासकी वेदनासे आकुल रहते हैं, नरककी पृथ्वीकी मिट्टी व नदीका खारी जल खातेपीते हैं तथापि उनकी भूखप्यास मिटती नहीं है। जैसे देवगतिमें यह संसारी प्राणी दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर तेतीस सागरकी आयु तक सुख भोगता है वैसे नरकगतिमें नारकी दशहजार वर्षकी आयुसे

लेकर तेतीस सागरकी आयुतक दुःख भोगता है। तिर्यंचगति कुछ कम पापके उदयसे होती हैं। एकेंद्रिय पृथ्वी आदिसे लेकर पंचेंद्रिय सैनी पशु घोड़ा, वंदर, हाथी आदि सब इस गतिमें हैं—इनकी पराधीन व दुःखमय अवस्था सबको प्रत्यक्ष प्रगट है। ये तिर्यंच जो क्षुद्र होते हैं उनको अनेक प्रकार मनुष्योंके व्यापारोंसे अपने प्राण देने पड़ते हैं—मांसलोलुपी मनुष्योंके कारण पंचेन्द्री सैनी वकरे, भैंसे, गाय आदि पशु वड़ी निर्दयतासे वध किये जाते हैं। इस गतिके अपार दुःख भी विचारनेसे शरीरमें रोमांच खड़े होजाते हैं, मनुष्य गति कुछ पुण्य कुछ पाप दोनोंके उदयसे होती है। ये मनुष्य ढाई द्वीपोंमें पैदा होते हैं, इनमें तीस भोगभूमियां हैं जहां सदा ही युगल स्त्री पुरुष साथ पैदा होते हैं और १ युगलको जन्म देकर साथ ही मरते हैं। कल्पवृक्षोंसे मनके अनुसार वस्तु प्राप्त होजाती है। मन्द कपायसे संतोपके साथ ये अपने दीर्घजीवनको विताते हैं इसलिये मरकर देवगतिमें ही जाते हैं। ढाईद्वीपमें एकसौ साठ विदेहक्षेत्र हैं। जहां सदा कर्मभूमि रहती है, जहां असि, मसि, कृपि, वाणिज्य, विद्या, शिल्प छःकर्मोंसे आजीविका हो तथा मोक्षमार्गके लिये क्रियाएं पालना संभव हों वह कर्मभूमि हैं। भरत तथा ऐरावत ढाई द्वीपमें दस हैं इनमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका पालन होता रहता है। अवसर्पिणीके पहले, दूसरे, तीसरे कालमें तथा उत्सर्पिणीके चौथे, पांचवें, छठे कालमें भोगभूमिकी रचना होती है। शेप तीन तीन कालोंमें कर्मभूमि होती है। ढाई द्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें युगल तिर्यंच पैदा होते हैं इसलिये वहां भी भोग-भूमि है। अंतके आधे स्वयंभूरमण द्वीप व पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्रमें

कर्मभूमि हैं। वहां तिर्यंच होते हैं। इसतरह चारों गतियोंमें ये जीव कर्मबंध सहित होते हुए पूर्वमें बांधे कर्मोंका फल भोगते हुए नए कर्मोंको भी हरएक गतिमें बांधते रहते हैं। जहांतक मोहका उपशम या नाश नहीं होता है वहांतक संसारी जीव हरएक समय बिना किसी अन्तरके अपने तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर कषायके उदयके आधीन रागद्वेषमई भावोंसे कर्मोंका बंध अंतर्मुहूर्तकी स्थितिसे लेकर सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरतक बांधा करते हैं—चारों ही गतियोंमें कमसहित ज्ञान होता है व विषयवांछा होती है जो कभी तृप्त नहीं होती है, इससे यह संसारी प्राणी सदा दुःखी ही रहता है। श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है:—

अनेकशस्त्वया प्राप्ता विविधाभोगसम्पदः।
अप्सरागणसंकीर्णे दिवि देवविराजिते ॥ १४१ ॥
पुनश्च नरके रौद्रे रौरवेऽत्यन्तभीतिदे।
नानाप्रकारदुःखौघैः संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥१४२॥
तिर्यग्गतौ च यद्दुःखं प्राप्तं छेदनभेदनैः।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तुं जिह्वाकोटिशतैरपि ॥ १४६ ॥
संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं यन्न प्राप्तमनेकधा।
देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता जन्तुनाऽनिशं ॥ १४७ ॥
चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्तभीतिदे।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ॥ १४८ ॥
एवं विधमिदं कष्टं ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम्।
कथं न यासि वैराग्यं धिगस्तु तव जीवितम् ॥ १४९ ॥
जीवितं विद्युतातुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥ १५० ॥
शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः।
यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥ १५१ ॥

भावार्थ-हे आत्मन्! तूने देवगतिमें देव और देवियोंसे भरे हुए स्थानमें नाना प्रकारकी भोग सम्पदाएं बार बार पाई हैं तौभी तृप्त नहीं हुआ। अत्यन्त भयानक, क्रूर भावसे पूर्ण नर्कमें भी कर्मोंके उदयसे जाकर नाना प्रकारके दुःखोंमें पड़ा है। तिर्यंच गतिमें छेदन भेदन आदिसे जो२ दुःख तूने पाया है, उसको करोड़ों जबानोंसे भी कोई मनुष्य नहीं कह सक्ता है। इस संसारमें भ्रमते हुए इस जीवने देव, मनुष्य व तिर्यंच गतिमें जो कुछ सुख था वह बार बार पालिया है परन्तु तृप्त न हुआ। कर्मोंके उदयसे चारों ही गतियोंमें इस भयानक संसारके भीतर घूमते हुए अनेक सुख तथा दुःख पाए हैं।

इस प्रकार अत्यन्त क्षणभंगुर व कष्टमई संसारकी अवस्थाको जान कर क्यों नहीं वैराग्यभावको प्राप्त करता है। यदि वैराग्य न पाएगा तो तेरा जीवन धिक्कारके योग्य है। यह जीवन बिजुलीके समान चंचल है, पदार्थोंका संयोग स्वप्नके समान है, स्नेह संध्याकी लालीके समान है तथा शरीर तृणपर पड़े हुए जलविंदुके समान क्षणभंगुर है। ये भोग इन्द्रधनुपके समान हैं, सम्पति मेघोंके समान है, युवानी जलमें रेखाके समान है-ये सब ही बातें क्षणभंगुर हैं।

इसलिये ज्ञानी जीवको पंचम गति मोक्षको ही उपादेय जान उसीकी प्राप्तिके लिये पुरुपार्थ करना योग्य है।

उत्थानिका-आगे दिखलाते हैं कि गति नामा नामकर्म व आयु कर्मके उदयसे प्राप्त जो देव आदि गतियें हैं उनमें आत्माका स्वभावपना नहीं है। वे आत्माकी विभाव या अशुद्ध अवस्थाएं हैं। अथवा जो कोई वादी ऐसा कहते हैं कि जगतमें एक जीवकी

अन्य अन्य अवस्थाएं नहीं होती हैं, देव मरके देव ही होता है, मनुष्य मरके मनुष्य ही होते हैं उनके इस कथनका निषेध करनेके लिये कहते हैं–

खीणे पुव्वणिवद्धे गदिणामे आउसेच तेवि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा॥ १२७॥

क्षीणे पूर्वनिवद्धे गतिनाम्नि आयुषि च तेऽपि खलु।
प्राप्नुवन्ति चान्यां गतिमायुष्कं स्वलेश्यावशात्॥ १२७॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(पुव्वणिवद्धे) पूर्वमें वांधे हुए (गदिणामे) गतिनामा नाम कर्मके (च) और (आउसे) आयु कर्मके (खीणे) क्षय होजाने पर (तेवि) वे ही जीव (खलु) वास्तवमें (सलेस्सवसा) अपनी २ लेश्याके वशसे (अण्णं) अन्य (गदिम्) गतिको (य) और (आउस्सं) आयुको (पापुण्णंति) पाते हैं।

विशेषार्थ–ये संसारी जीव अपने २ परिणामोंके आधीन भिन्न २ गति व आयुको वांधकर जन्मते रहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छः लेश्याएं होती हैं इनका स्वरूप श्री गोम्मटसारमें विस्तारसे कहा है जैसे–कृष्ण लेश्याका स्वरूप यह है "चंडो ण मुचइ वेरं भंडलसीलो य धम्मदयरहियो। दुट्ठो ण यएदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स॥ ५०९॥" भावार्थ–जो प्रचंड तीव्र क्रोधी हो, वैर न छोड़े, वकनेका व युद्ध करनेका जिसका सहज स्वभाव हो, दयाधर्मसे रहित हो, दुष्ट हो, किसी गुरुजन आदिके वश न हो। ये लक्षण कृष्ण लेश्या वालोंके हैं।

यह अध्यात्म ग्रंथ है इससे विशेष नहीं कहा है तथापि कुछ संक्षेपसे लिखते हैं–"कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिः"

लेश्या यह लेश्याका लक्षण है । अर्थात् कषायोंके उदयसे रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । यही गतिनामा नामकर्म व आयुकर्मके बंधनेका बीज है । इसलिये लेश्याका नाश करना योग्य है । जिसका उपाय यह है कि जब यह भावना की जाती है कि मैं क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारों कषायोंके उदयसे भिन्न हूं, तथा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख तथा अनंत वीर्य इन चार अनंतचतुष्टयसे भिन्न नहीं हूं ऐसा मैं परमात्म स्वभावधारी हूं, तब कषायोंके उदयका नाश होता है, इस भावनाके लिये ही शुभ या अशुभ मन वचन कायके व्यापारका त्याग किया जाता है। इसी ही क्रमसे तीनों योगोंका अभाव होजाता है तब कषायोंके उदयसे रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिरूप लेश्याका भी विनाश होजाता है। लेश्याके अभावसे गतिनामकर्म तथा आयुकर्मका भी अभाव होजाता है तब अक्षय अनंत सुखादि गुणोंसे पूर्ण मोक्षका लाभ होता है यह सूत्रका अभिप्राय है ।

भावार्थ—इस गाथामें यह बात दिखलाई है कि यह जीव लेश्याके अनुसार आयुकर्म तथा गतिनाम कर्म बांधता है और लेश्याके अनुसार एक आयु व गतिको छोड़कर दूसरी आयु व गतिमें प्राप्त होजाता है । मरणके अन्तमें जो लेश्या हो उसी लेश्याका सम्बन्ध दूसरी गतिमें अपर्याप्त अवस्था तक अवश्य चला जाता है। लेश्या आत्माकी योगशक्तिके परिणमनको कहते हैं जो परिणमन मन वचन कायकी क्रियाके आलम्बनसे कषायोंके उदयके रंगसे रंगा हुआ हो—वास्तवमें लेश्या योग प्रवृत्ति और कषायका उदय इन दोनोंकी मिली हुई अवस्थाका नाम है । यद्यपि कषाय रहितके योग प्रवृत्ति

कषायानुरंजित नहीं होती है तथापि योग प्रवृत्ति रहनेसे शुक्ललेश्या सयोगकेवली तक बताई है—अयोगकेवलीके न योग प्रवृत्ति है न कषायोंका उदय है इसलिये वहां लेश्याका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। छः लेश्याओंमें कृष्ण, नील, कापोत अशुभ हैं जब कि पीत, पद्म, शुक्ल शुभ हैं। नारकी जीव और चार इंद्रिय तक सब जीव तीन अशुभ लेश्यावाले ही हैं। पंचेन्द्रिय असैनीके कृष्णसे पीततक चार लेश्याएं होती हैं, शेष पंचेन्द्रिय सैनी मनुष्य तथा तिर्यंचोंके छहों लेश्याएं होती हैं। देवोंके पर्याप्त अवस्थामें पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या ही हैं। अपर्याप्त अवस्थामें भवनवासी, व्यंतर ज्योतिषीके कृष्ण, नील व कापोत तीन अशुभ लेश्याए होती हैं। कृष्णलेश्याका स्वरूप कहा जाचुका है अन्य पांच लेश्याओंका स्वरूप नीचे प्रकार श्री गोम्मटसारमें है—

णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥ ५११ ॥

भावार्थ—जिसके निद्रा बहुत हो, जो दूसरोंको बहुत ठगता हो, धन धान्य आदिमें तीव्र लालसावान हो, यह संक्षेपसे नील-लेश्यावाले जीवका चिह्न कहा गया है—

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥५१२॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं इव परंपि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढि वा ॥५१३॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगंपि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ ५१४ ॥

भावार्थ—जो दूसरोंपर बहुत क्रोध करे, बहुत प्रकार औरकी निन्दा करे, बहुत प्रकार दूसरोंको दुःखी करे, जिसके शोक व भय

बहुत हो, जो दूसरोंके साथ ईर्षा रक्खे, दूसरोंका अपमान करे, अपनी बहुत बड़ाई करे, जो अपने समान दूसरेको पापी व कपटी मानता हुआ उसका विश्वास न करे, जो अपनी स्तुति करे उसपर बहुत प्रसन्न हो, दूसरेकी हानि व लाभपर ध्यान न दे, जो युद्धमें अपना मरण चाहे, जो अपनी बड़ाई करे उसको बहुत धन दे, तथा जो कर्तव्य अकर्तव्यको न गिने ऐसे चिह्न कापोतलेश्यावालेके होते हैं।

**जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।**
**दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ ५१५ ॥**

भावार्थ—जो कर्तव्य अकर्तव्य, सेवनेयोग्य न सेवनेयोग्यको जाने, सर्वको अपने समान देखनेवाला हो, दया व दानमें प्रीति रखता हो तथा मन, वचन, कायमें कोमल हो ऐसे चिह्न पीत लेश्यावाले जीवके होते हैं।

**चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।**
**साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१६ ॥**

भावार्थ—जो त्यागी हो, भद्र हो—सुकार्य करनेका स्वभाव रखता हो, शुभ कार्यमें उद्यमी हो, कष्ट व उपद्रवको बहुत सहन करनेवाला हो, साधुओंकी और बड़ोंकी भक्तिमें प्रीतिमान हो ऐसे चिह्न पद्मलेश्यावाले जीवके हैं—

**ण कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।**
**णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स ॥ ५१७ ॥**

भावार्थ—जो पक्षपात न करे, जो निदान न करे अर्थात् भोगाकांक्षासे धर्म न सेवे, जो सर्व जीवोंमें समताभाव रखता हो, इष्ट व अनिष्टमें राग द्वेष न करता हो, पुत्र स्त्री आदिमें स्नेह रहित हो ऐसे चिह्न शुक्लेश्यावाले जीवके हैं।

कृष्णलेश्यावालेका स्वरूप ऐसा भी कहा है—

मंदो बुद्धिविहोणो णिव्विणाणी य विसयलोलो य ।
माणी मायो य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥ ५०६ ॥

भावार्थ—जो स्वच्छंद हो, क्रियामें मन्द हो, बुद्धि रहित हो, वर्तमान कार्यको न जानता हो, विज्ञान व चातुरीसे रहित हो, इंद्रियोंके विषयोंका अति लम्पटी हो, अभिमानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, तथा जिसके मनके अभिप्रायको दूसरा न जान सके ये चिह्न कृष्णलेश्यावाले जीवके हैं ।

इन छः लेश्याओंके लिये एक दृष्टांत दिया है सो यह है—

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्ठारण्णमज्झदेसम्मि ।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥ ५०७ ॥
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥ ५०८ ॥

भावार्थ—कृष्णादिक छहों लेश्यावाले छः पथिक मार्ग भूलकर एक वनमें पहुंच गए । वहां फलके भारसे भरे हुए एक वृक्षको देखकर वे ऐसा विचार करने लगे—कृष्णलेश्याके भावको रखनेवाला विचारता है कि मैं इस वृक्षको जड़से उखाड़ डालूंगा और फल खाऊंगा । नील लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षके पेड़ या स्कंधको काटकर फल खाऊंगा । कपोत लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षकी बड़ी२ शाखाओंको काटकर फल खाऊंगा । पीत लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी छोटी टहनियोंको काटकर फल खाऊंगा । पद्मलेश्यावाला विचारता है कि मैं वृक्षोंके फलोंको ही तोड़कर खाऊंगा । शुक्ललेश्यावाला विचारता है कि मैं उन फलोंको ही खाऊंगा जो अपनेसे टूटकर गिरे हों । इस

प्रकार मनसे विचारे व कहे सो छः लेश्याओंके कर्म हैं।

इस दृष्टांतसे छः प्रकारकी लेश्यावाले जीवोंके भावोंका पता चलता है।

इन लेश्याके अंशोंसे ही परभवके लिये आयु बंध होती है व इन ही लेश्याओंको लिये हुए ही मरकर जहां उस लेश्याका होना संभव है वहीं यह जीव जाता है।

छह लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट ऐसे अठारह भेद हैं इनमें जीव मरकर दूसरी गतिको जाते हैं। इनहीके मध्यमें आठ अंश ऐसे हैं जिनमें आयुकर्मका बंध होता है। गोम्मटसार कर्मकांडके स्थानसमुत्कीर्तन अधिकारमें कहा है कि तेजोलेश्याके जघन्य स्थानके पीछे अपना अनंतगुण वृद्धिरूप मध्यम स्थानसे लगाय कापोतलेश्याका जघन्य स्थानके पीछे अनंतगुण वृद्धिको लिये हुए उसहीके मध्यम स्थानपर्यंत अथवा कापोतलेश्याके जघन्य स्थानके पीछे अनंतगुण वृद्धिरूप जो तेजोलेश्याका मध्यम स्थान तहां पर्यंत पद्म, शुक्ल, कृष्ण, नीलके जघन्य अंश ऐसे चार अंश तो ये तथा चार अंश नीचे प्रमाण हैं—

(१) चारों ही आयुबंधके कारण पृथ्वी भेद समान कषायमें कृष्णादि छहोंके मध्यम अंश।

(२) नरक विना तीन आयु बंधके कारण धूलि रेखा समान कषायमें कृष्णादि छहों लेश्याके मध्यम अंश।

(३) नरक तिर्यंच विना दो आयु बंधके कारण धूलिरेखा समान कषायमें कृष्णादि छहों लेश्याके मध्यम अंश।

(४) केवल देव आयु बंधके कारण धूलि रेखा समान कषायमें

कृष्ण विना ५के या कृष्ण नील विना ४के या पीतादि तीन लेश्याके मध्यम अंश इस तरह आठ अंश आयु बंधके कारण हैं। आयु कर्मका बंध हर समय नहीं होता है। कर्मभूमिके मनुष्य या तिर्यंचके लिये यह नियम है कि जितनी आयुकी स्थिति हो उसके दो तिहाई बीतनेपर एक अन्तर्मुहूर्तके लिये पहला अवसर आता है। इस मध्यमें यदि आयु बंधके योग्य मध्यम लेश्याके अंश होते हैं तो आयु बंधती हैं यदि नहीं होते हैं तो नहीं बंधती है फिर शेष आयुमेंसे दो तिहाई भाग जानेपर दूसरी दफे एक अंतर्मुहूर्तके लिये अवसर आता है, यदि वहां भी नहीं बंधी तो फिर दो तिहाई बीतनेपर तीसरी दफे अंतमुहूर्तके लिये अवसर आएगा। इस तरह दो तिहाई स्थितिके बीतते हुए आठ दफे अवसर आयगा। इसको अपकर्ष काल कहते हैं। जो आठ दफेमें आयु न बंधी तो मरणके अंतर्मुहूर्त पहले अर्थात् मरणके कालके अंतर्मुहूर्तके मध्यमें ही आयु अवश्य बंध जायगी। जैसे किसीकी आयुकी स्थिति ६५६१ वर्ष है तो उसके आठ अपकर्ष नीचे प्रमाण वर्ष शेष रहनेपर आवेंगे—

(१) प्रथम अपकर्ष जब २१८७ वर्ष शेष रहें।
(२) दूसरा ,, ७२९ ,, ,,
(३) तीसरा ,, २४३ ,, ,,
(४) चौथा ,, ८१ ,, ,,
(५) पांचवा ,, २७ ,, ,,
(६) छट्ठा ,, ९ ,, ,,
(७) सातवां ,, ३ ,, ,,
(८) आठवां ,, १ ,, ,,

जब किसी अपकर्षमें परभवके लिये आयु बांध ली हो तब उसके आगे आनेवाले अपकर्षोंमें उस समयकी लेश्याके अनुसार आयुकी स्थिति कम व अधिक होसक्ती है, दूसरी आयु नहीं बंधती है। चार आयुमेंसे एक ही आयुका बंध होता है।

भोगभूमिके मनुष्य तिर्यंच अपनी आयुकी स्थितिमें नौ मास शेष रहनेपर देव, नारकी अपनी स्थितिके छः मास शेष रहनेपर इसी स्थितिको आठ त्रिभागोंके कालमें ही आयु बांधते हैं।

मरण समय कौनसी लेश्यावाला कौनसी गतिको जाता है इसका कथन श्रीगोम्मटसारजीके अनुसार इसलिये दिया जाता है कि जो अपना हित करना चाहें वे शुभगति सम्बंधी भावोंके होनेको निमित्त मरण समय मिलनेका उद्यम रक्खें।

> लेसट्ठारसअंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति।
> सुक्कुक्कस्संसमुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा॥ ५१९॥

भावार्थ—लेश्याके छबीस अंशोंमेंसे मध्यके आठ अंशको छोड़कर जिनमें आयुकर्म बंधनेकी योग्यता है शेष अठारह अंशोंमें अर्थात् छहों लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदोंमें चारों गतियोंमें जानेके कारण भाव होते हैं।

शुक्लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुवे जीव सर्वार्थसिद्धिको ही जाते हैं। यहां उत्कृष्ट देव आयुकी स्थिति तेतीस सागर होती है। श्री गोमटसारकी गाथा ५२० से ५२९ तक जो लेश्याओंके द्वारा जन्मोंका कथन है उसका भाव नीचे प्रमाण जानना—

शुक्ल लेश्याके मध्यम अंशसे मरे जीव आनत नाम तेरहवें स्वर्गसे लेकर विजयादि चार अनुत्तर विमानोंमें पैदा होते हैं

तथा शुक्ल लेश्याके जघन्य अंशसे मरकर शतार सहस्रार नाम ११ वें व १२ वें स्वर्गमें जन्मते हैं। पद्म लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर सहस्रार नाम बारहवें स्वर्गमें तथा उसके जघन्य अंशसे मरकर सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें पैदा होते हैं तथा पद्म-लेश्याके मध्यम अंशसे मरकर सहस्रारसे नीचे सनत्कुमार, माहे-न्द्रके ऊपर यथायोग्य जन्मते हैं। तेज या पीत लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर सनतकुमार माहेन्द्र स्वर्गके अंतके पटलमें चक्रनामा इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानोंमें उपजते हैं। तेज लेश्याके जघन्य अंशसे मरकर उसके सौधर्म ईशान स्वर्गका पहिला रितु नामा इन्द्रक या इसके श्रेणीवद्ध विमानोंमें तथा उसके मध्यम अंशसे मरकर सौधर्म ईशानके दूसरे पटलके विमल नाम इंद्रकसे लगाकर सनत्कुमार माहेन्द्रके अंतिम पटलके नीचे पटलके वलभद्र नाम इंद्रक तक विमानोंमें पैदा होते हैं।

कृष्ण लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर जीव सातवें नरकके अवधिनाम इंद्रकविलमें पैदा होते हैं। इसीके जघन्य अंशसे मरकर जीव पांचवे नरकके अंत पटलके तिमिस्र नाम इंद्रकमें तथा मध्यम अंशसे मरकर सातवें नरकके शेप चार विलोंमें व छठे नर्कके तीनों पटलोंमें व पांचवीं पृथ्वीके अंतिम पटलमें यथायोग्य उपजते हैं।

नीललेश्याके उत्कृट अंशसे मरकर जीव पांचमी नरकके अंतिम पटलसे पहले पटलके अंध्र नाम इंद्रकमें, व जघन्य अंशसे मरकर तीसरी वालुका पृथ्वीके अंत पटलमें संप्रज्वलित नाम इंद्रकमें, व मध्यम अंशसे मरकर वालुका पृथ्वीके संप्रज्वलित इंद्रकसे नीचे, चौथी पृथ्वीके सात पटलोंमें व पांचमी नरकके अंध्र इंद्रकसे ऊपर पैदा होते हैं।

कापोत लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर जीव तीसरी नरकके आठवें पटलके संज्वलित नाम इंद्रकमें, जघन्य अंशसे मरकर पहली पृथ्वीके पहला सीमन्तक नामा इन्द्रकमें, मध्यम अंशसे मरकर इन दोनोंके मध्यमें पैदा होते हैं।

तथा कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशसे मरे ऐसे कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टी तिर्यंच या मनुष्य और तेजोलेश्याके मध्यम अंशसे मरे ऐसे भोगभूमियां मिथ्यादृष्टी तिर्यंच या मनुष्य तीन प्रकारके भवनवासी, व्यन्तर, व ज्योतिप देवोंमें उपजते हैं।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्याओंके मध्यम अंशसे मरे तिर्यंच या मनुष्य या भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिपी या सौधर्म ईशान स्वर्गकेवासी देव मिथ्यादृष्टी सो वादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक, जलकायिक, व वनस्पतिकायिकमें पैदा होते हैं। यहां भवनत्रयादि देवोंके मात्र पीतलेश्यासे व तिर्यंच या मनुष्योंके कृष्णादि तीन लेश्यासे मरण होता है।

कृष्ण, नील, कापोतके मध्यम अंशसे मरे ऐसे तिर्यंच या मनुष्य अग्निकायिक, वातकायिक, विकलत्रय. असैनी पंचेन्द्री, व साधारण वनस्पतिमें उपजते हैं।

तथा सामान्य नियम यह है कि भवनत्रिकको आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि तक देव व घम्मा आदि सात पृथ्वी सम्बंधी नारकी अपनी२ अपनी लेश्याके अनुसार यथायोग्य मनुष्य गति या तिर्यंच गतिको जाते हैं। यह भी वात जान लेनी चाहिये कि जिस गति सम्बन्धी पहले आयु वांधी हो उस ही गतिमें मरणके समय होने-वाली लेश्याके अनुसार यह जीव पैदा होता है। जैसे मनुष्यके

पहले देव आयुका बंध भया होय फिर मरण होते हुए कृष्ण आदि अशुभ लेश्या हो तो भवनत्रिकमें ही पैदा होता है ऐसा ही नियम और स्थानमें भी जानना। पंडित टोडरमलजीके इस कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि मरणके समय जैसा लेश्या सम्बन्धी भाव होगा उसीके अनुसार जहां वह लेश्या अपर्याप्त अवस्थामें संभव होगी वहीं वह जीव जायगा। ऐसा जानकर मुमुक्षु जीवको उचित है कि अशुभ लेश्या सम्बन्धी भावोंको त्यागकर शुभलेश्या सम्बंधी भावोंको करे। सबसे उचित भाव शुक्ललेश्याके हैं। इस भावकी प्राप्तिके लिये हमें अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका विचार करना चाहिये। शुद्ध वीतराग भावकी भावना ही भावोंको उत्तम बनानेवाली है।

जैसा श्री अमितिगति महाराजने सामायिक पाठमें कहा है—

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहाय्यकं कुर्वते ॥
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ॥

भावार्थ—जो महात्मा अपने आत्मामें शील व संयमके भारसे पूर्ण हैं, अन्य पदार्थोंकी सहायताके त्यागी हैं, शरीरसे यद्यपि सहायता लेते हैं तथापि उससे भी जिनका चित्त उदास है, जो घोर कठिन तपस्या करते हैं तब भी उस तपमें वैरागी हैं वे ही इस महाभयकारी संसारवनको उल्लंघन कर मोक्षको पहुंच जाते हैं।

उत्थानिका—आगे पूर्वमें जो जीव पदार्थका कथन किया है उसीका संकोच व्याख्यान करते हुए संसारी और मुक्तके भेदोंको बताते हैं—

**एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।**
**देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥१२८॥**

एते जीवनिकाया देहप्रवीचारमाश्रिताः भणिताः।
देहविहीनाः सिद्धाः भव्या संसारिणोऽभव्याश्च ॥ १२८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(एदे) ये (जीवणिकाया) जीवोंके समूह (देहप्पविचारम्) शरीरमें वर्तनाको (अस्सिदा) आश्रय करनेवाले अर्थात् शरीरके द्वारा व्यापार करनेवाले (भणिदा) कहे गए हैं (देहविहूणा) जो शरीरसे रहित हैं वे (सिद्धा) सिद्ध हैं। (संसारिणो) संसारी जीव (भव्वा) भव्य (य) और (अभव्वा) अभव्य दो प्रकारके हैं।

विशेषार्थ-निश्चय नयसे देखा जावे तो सर्व जीव शुद्ध आत्मस्वरूपके धारी हैं, केवलज्ञानमई चेतन्य शरीरके स्वामी हैं तथा कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले शरीरके स्वामी हैं तथा कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले शरीरसे रहित हैं। व्यवहारनयसे जो शरीरमें आश्रित हैं वे संसारी हैं, जो शरीर रहित हैं वे सिद्ध हैं। सिद्धोंको साक्षात् शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होगई है। संसारी जीवोंमें कोई भव्य हैं, कोई अभव्य हैं। जिनमें केवलज्ञान आदि गुणोंकी प्रगटता रूप शुद्धिकी शक्ति पाई जाती है वे भव्य हैं-जिनमें प्रगटतारूप शुद्धिकी शक्ति नहीं है वे अभव्य हैं-जैसे पकने योग्य मूंग और न पकने योग्य मूंग, या सुवर्ण पाषाण और अंध पाषाण। पहलेमें स्वभावकी प्रगटताकी योग्यता है दूसरेमें नहीं है, यद्यपि मूंगपना व सुवर्णपना इनमें भी है। जिनमें शुद्ध होनेकी शक्ति होती है वह शक्ति सम्यग्दर्शनके ग्रहणके समय प्रगट होजाती है पर जिनमें यह

शक्ति नहीं है वह सदा अशुद्ध रूपसे ही रहती है जैसे अनादिसे चली आ रही है।

भावार्थ–यहां आचार्यने यह बताया है कि जो एकेन्द्रिय द्विन्द्रिय आदि जीवोंके भेद व नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव ऐसे गतिकी अपेक्षा भेद हम बताचुके हैं वे सब जीव समुदाय शरीरके धारनेके कारणसे संसारी जानने चाहिये। ये जीव अपने २ कर्मोंके उदयसे नाना प्रकारके शरीरोंमें परिवर्तन करते रहते हैं। जिनके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण पांचों ही प्रकारके शरीर नहीं हैं वे निरंजन सिद्ध भगवान हैं। संसारी जीवोंमें जिनमें शुद्ध होनेकी शक्ति होती है वे भव्य जीव ही सिद्ध गतिको प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञके ज्ञानमें यह बात झलकी है सोही उन्होंने अपनी दिव्यवाणीसे बताई है कि इस संसारमें कुछ जीव ऐसे भी हैं कि जो निश्चय नयसे सर्व आत्मीक पवित्र गुणोंके धारी हैं तथापि व्यवहारनयसे वे इतने अधिक कर्मरूपी मैलसे या प्रबल मिथ्यात्व कर्मसे आच्छादित हैं कि उनको निमित्तोंके मिलनेपर भी कभी सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होगा। वे मंदकषायसे व्यवहार मोक्षमार्गके श्रद्धानी होंगे, श्रावक तथा मुनिके व्रत भी पालेंगे, ऊपर नौग्रैवेयक तक जाकर अहमिंद्र होंगे तथापि आत्माकी शुद्ध ज्योतिकी परीक्षा न कर पाएंगे। ऐसे जीवोंको ही तीर्थंकरोंने अभव्यकी संज्ञा दी है।

श्री राजवार्तिकजीमें स्वामी अकलंकने भी यही लक्षण भव्य या अभव्यका किया है जैसे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यति इति भव्यः" "तद्विपरीतोऽभव्यः"।

भव्य अभव्यकी पहचान हम अल्पज्ञानियोंको होना कठिन है अतएव हमको अपने आपको भव्य ही मानकर धर्मसाधनका व सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना योग्य है। हमारा उपाय कभी निरर्थक न जायगा—कषायोंकी मंदतासे पापका नाश तथा पुण्यका लाभ तो होही जायगा जिससे हमारा भविष्यका जीवन नरकादि रूप न होकर स्वर्गादिमें सातारूप होगा। यदि हम भव्य होंगे हमको अपने आत्माकी यथार्थ प्रतीति हो जायगी तथा स्वात्मानुभवका भी लाभ होगा।

इस पुरुषार्थी जीवको सदा उद्यमशील होना योग्य है—श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

**नृजन्मन: फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम् ।**
**अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ॥ ७ ॥**
**आत्मानं सततं रक्षेज्ज्ञानध्यानतपोबलैः ।**
**प्रमादिनोऽस्य जीवस्य शीलरत्नं विलुप्यति ॥ १५ ॥**

भावार्थ—मनुष्य जन्म पानेका यही सार फल है, जो ज्ञानकी सेवा की जाय तथा अपने वीर्यको न छिपाकर संयमका धारण किया जावे। अपने आत्माको सदा ही ज्ञान, ध्यान व तपके बलसे रक्षित रखना चाहिये—जो जीव प्रमादी होता है उसका शीलरूपी रत्न गुम हो जाता है।

इसतरह चार गाथाओं तक पंचेन्द्रियके व्याख्यानकी मुख्यतासे चौथा स्थल पूर्ण हुआ। यहां पंचेद्रिय उपलक्षण पद है इस कारणसे गौणरूपसे "तिरिया बहुप्पयारा" इस पूर्वमें कहे हुए गाथाके खंडसे एकेंद्रिय आदिका व्याख्यान भी जानना योग्य है। इस उपलक्षणका दृष्टांत देते हैं। जैसे किसीने कहा, काकों या कौओंसे

घीकी रक्षा करो तब इसका मतलब यह भी लिया जायगा कि बिलाव आदिसे भी घीकी रक्षा की जावे ।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि पांचों इंद्रियें तथा पृथ्वी आदि छःकाय निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा प्रगट करते हैं-

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।
जं हवदि तेसु णाणं जीवोत्ति य तं परूपवंति ॥ १२९ ॥

नहीन्द्रियाणि जीवाः कायाः पुनः षट्प्रकाराः प्रज्ञप्ताः ।
यद्भवति तेषु ज्ञानं जीव इति च प्ररूपयन्ति ॥ १२९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(इंद्रियाणि) पांच इंद्रियें (पुण) तथा ( छप्पयार ) छः प्रकारके ( काया ) काय (हि) निश्चयनयसे (जीवा) जीव (ण) नहीं (पण्णत्ता) कहे गए हैं। (तेसु) उन इंद्रिय तथा कायोंमें (जं णाणं) जो ज्ञान (हवदि) है (तं) उसको (जीवो-त्तिय) जीव ऐसा (परूवंति) कहते हैं।

विशेषार्थ-यद्यपि उपचार रहित असद्भूतव्यवहारनयसे स्पर्शन आदि पांच द्रव्य इंद्रियोंको तथा अशुद्ध निश्चयनयसे लब्धि तथा उपयोगरूप भावइन्द्रियोंको जीव कहते हैं ऐसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रसकायोंको व्यवहारनयसे जीव कहते हैं तथापि शुद्ध निश्चयनयसे जीव वह है जो इंद्रियोंसेरहित, अमूर्तीक, केवलज्ञानमें अंतर्भूत अनंतसुख, आदि गुणोंका समुदाय रूप है यह तात्पर्य है ।

भावार्थ-आचार्यने शिष्यको स्वात्मानुभव प्राप्त करानेके लिये उसका लक्ष्य असली आत्माके स्वभावपर आकर्षित किया है। शुद्ध निश्चयनय परद्रव्योंके निमित्तसे होनेवाले विकारोंसे रहित मात्र

स्वाभाविक शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य दिलाता है। यह नय बताता है कि यह जीव जो अनेक शरीरोंमें प्राप्त होनेसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, तथा पंचेंद्रिय नाम पाता है वा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक नाम पाता है, वास्तवमें अमूर्तीक है; पूर्णज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य्य, सम्यक्त व चारित्र आदि गुणोंसे भरपूर है। सिद्ध परमात्मामें और इस जीवमें स्वभावकी अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं है। व्यवहारमें जैसे घीके सम्बन्धसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं वैसे ही इस जीवको भिन्न २ प्रकारके शरीरके सम्बन्धसे एकेंद्रिय आदि नामसे कहते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्माको यह अच्छी तरह विचार लेना चाहिये कि इंद्रियोंके व कायोंके आकार सब पुद्गल जड़के द्वारा बने हुए हैं, मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं तथा जिन कर्मोंके उदयसे शरीर व इंद्रियें होती हैं वे कर्म भी सूक्ष्म पुद्गल हैं। वे ज्ञानावरणादि आठों ही कर्म मेरे आत्माके स्वभाव नहीं हैं ऐसा हरएक जीवका स्वभाव समझना चाहिये।

श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है:-

**स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।**
**अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥**

भावार्थ—यह आत्मा स्वानुभवके द्वारा भले प्रकार प्रगट होता है, शरीर प्रमाण आकार रखता है, विनाश रहित है, लोक अलोकको देखनेवाला है तथा अत्यन्त सुखी है।

जितने संसारमें शरीरधारी प्राणियोंके भेष हैं उनके भीतर जीवको पुद्गलमई अवस्थाओंसे भिन्न शुद्ध एकाकार सिद्ध परमात्माके समान देखना चाहिये।

उत्थानिका-आगे जानना देखना आदि कार्य जीवमें ही संभव होते हैं ऐसा निश्चय करते हैं—

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१३०॥

जानाति पश्यति सर्वमिच्छति सौख्यं बिभेति दुःखाद्।
करोति हितमहितं वा भुङ्क्ते जीवः फलं तयोः ॥ १३० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीव) यह संसारी जीव (सव्वं) सर्व पदार्थोंको (पस्सदि) देखता है (जाणदि) जानता है, (सुक्खं) सुखको (इच्छदि) चाहता है (दुक्खादो) दुःखोंसे (विभेदि) डरता है, (हिदम्) हितरूप अच्छा काम (अहिदम्) अहितरूप बुराकाम (कुव्वदि) करता है (वा) और (तेसिं) उन भले बुरे कामोंका (फलं) फल (भुंजदि) भोगता है।

विशेषार्थ-पदार्थोंके जाननेरूप व देखनेरूप क्रियाका यह जीव ही कर्ता है पुद्गल नहीं है, कर्म और नोकर्म शरीरादिके निमित्तसे होनेवाली सुखकी परिणति रूप इच्छाकी क्रियाका कर्ता भी यही जीव है, दुःखकी परिणतिसे भय करने रूप क्रियाका कर्ता भी यही जीव है, हित व अहितरूप क्रियाका कर्ता भी यही जीव है। व यही जीव सुख या दुःखकी अनुभवन रूप क्रियाका कर्ता है। ये सब असाधारण या मुख्य कार्य जीवके अस्तित्वको झलकाते हैं। जीवका कार्य अशुभ, शुभ या शुद्धोपयोग रूपसे तीन तरहका भी कहा जाता है। अथवा यह जीव उपचार रहित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिका कर्ता है। अशुद्ध निश्चय नयसे रागद्वेषादि विकल्परूप भाव-कर्मका कर्ता है तथा शुद्ध

निश्चयनयसे केवलज्ञानादि शुद्ध भावोंमें परिणमन रूप कार्यका कर्ता है। इसी तरह तीनों नयोंसे इस जीवके भोक्तापना भी है अर्थात् व्यवहारनयसे पुद्गल कर्मके फलका, अशुद्ध निश्चयनयसे मैं सुखी मैं दुःखी इस भावका तथा शुद्ध निश्चयनयसे आत्मीक आनंदका भोगनेवाला है। ऐसा ही कहा है—

"पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि हम यदि संसारमें जीवोंकी पहचान करना चाहें तो इसको किन२ लक्षणोंसे हम ऐसा समझ सकेंगे कि अमुक प्राणीमें जीव है। क्योंकि जीव अमूर्तीक है इससे वह नेत्र आदि किसी भी इंद्रियसे किसी तरह नहीं देखा व जाना सक्ता है। इसीलिये यहां आचार्यने ऐसी पहिचानें बताई हैं जो जीवोंकी सत्ताको या मौजूदगीको झलकाती हैं। जिनमें जीवपना नहीं होता है जैसे पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल उनमें ये पहचानें नहीं मिल सक्ती हैं।

हमारे सामने एक १० वर्षका बालक खड़ा है व एक पुतला मिट्टीका रक्खा है।

हम देखते हैं कि मिट्टीका पुतला जब आंख, नाक, कान रखते हुए भी देख नहीं सक्ता, सूंघ नहीं सक्ता, सुन नहीं सक्ता है तब वह १० वर्षका बालक आंखोंसे देख रहा है, पुष्पोंको सूंघ रहा है, हमारे शब्द सुन रहा है। मिट्टीका पुतला जब कुछ इच्छा नहीं कर सक्ता तब वह बालक इंद्रियोंको भोग कर सुखी होनेकी

इच्छा करता है । यदि कोई खड्ग लेकर पुतले और बालकपर दौड़े तब पुतला वैसा ही खड़ा रहेगा किन्तु बालक उस खड्गकी मारके दुःखसे भय खाकर भाग जायगा । यह बालक किसी दूसरे भूखे बालकको भोजन देकर उसका हित करेगा तथा कभी दुष्टभाव करके किसी बालकको सताकर रुला देगा—पुतला कुछ भी हित या अहित नहीं करेगा। यदि हम मिठाई खिलानेको बुलावें तो बालक उसी समय आकर खाने लगेगा व इंद्रिय सुख भोगेगा जब कि पुतला न आयगा न कुछ खायगा । बालकमें, गाथामें कहे हुए सब लक्षण मिलनेसे जीव है ऐसा निश्चय होजाता है—यदि बालकमें जीव न होता तो कदापि उसमें ज्ञानशक्ति नहीं काम करती। इन पहचानोंसे हम हरएक प्राणीमें जीवकी सत्ताका निश्चय कर सक्ते हैं । वास्तवमें यह जीव ही कर्ता व भोक्ता है व नानाप्रकार शुभ अशुभ परिणतिका करनेवाला है । यह जीव संसार अवस्थामें अपने अज्ञानसे दुःख उठाया करता है ।

सारसमुच्चयमें कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

संसारे पर्यटन् जंतुर्बहुयोनिसमाकुले ।
शारीरं मानसं दुःखं प्राप्नोति वत ! दारुणं ॥ २ ॥
आर्त्तध्यानरतो मूढो न करोत्यात्मनो हितं ।
तेनासौ सुमहत्क्लेशं परत्रेह च गच्छति ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह जीव अनेक योनियोंसे भरे हुए संसारमें घूमता हुआ भयानक शारीरिक और मानसिक दुःख भोगता है । जो मूर्ख प्राणी आर्त्तध्यानमें रत होजाता है वह आत्माका सच्चा हित नहीं कर सक्ता है। इसीलिये यह जीव यहां और परलोकमें महान् क्लेश उठाता है । इस तरह भेद भावनाकी

मुख्यतासे पहली गाथा तथा जीवके असाधारण कार्यको कथन करते हुए दूसरी गाथा इस तरह स्वतंत्र दो गाथाओंके द्वारा पांचवां स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे पहली आधी गाथासे जीवाधिकारके व्याख्यानको संकोच करते हैं तथा आगे आधी गाथासे अजीवाधिकारका प्रारंभ करते हैं—

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ॥१३१॥

एवमभिगम्य जीवमन्यैरपि पर्यायैर्बहुकैः।
अभिगच्छत्वजीवं ज्ञानांतरितैर्लिंगैः ॥ १३१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एवम्) इस ही प्रकार (अण्णेहिं वि) दूसरी भी (बहुगेहिं) बहुतसी (पज्जएहिं) पर्यायोंके द्वारा (जीवं) इस जीवको (अभिगम्म) समझ करके (णाणंतरिदेहिं) ज्ञानसे भिन्न जड़पना आदि (लिंगेहिं) चिन्होंसे (अज्जीवं) अजीव तत्वको (अभिगच्छदु) जानो।

विशेषार्थ—पूर्वमें जो एकेंद्रिय आदि भेद कहे हैं उनके द्वारा जीवके भेदोंको समझ कर फिर व्यवहारनयसे जो संसारी जीवोंके गुणस्थान तथा मार्गणारूपसे भेद हैं व नामकर्मके उदय आदिसे उत्पन्न जो जीवोंके अपने २ मनुष्य आदि शरीरोंके संस्थान व संहनन आदि बाहरी आकार रूप भेद हैं व अशुद्ध निश्चयनयसे जो राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध भावोंकी अपेक्षा भेद हैं तथा शुद्ध-निश्चयनयसे जीवोंमें वीतराग व विकल्प रहित चिदानन्दमई एक स्वभावरूप आत्म-पदार्थके ज्ञानसे जो परमानन्दमें भलेप्रकार स्थिति

रूप सुखामृत रसका अनुभव होता है व उस अनुभवसे समरसी भाव होता है इत्यादि शुद्ध परिणमन रूप भेद हैं इन सबके द्वारा जीवोंको समझो। उसके पीछे अजीव पदार्थोंको ज्ञानसे अतिरिक्त जड़रूप गुणोंके द्वारा जानो–जिनका स्वरूप आगे कहेंगे ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ–यहां आचार्यने बताया है कि व्यवहारनयसे पुद्गलके सम्बन्धसे जितनी प्रकारकी अवस्थाएं इस जीवकी होती हैं उनका स्वरूप आगम द्वारा अच्छी तरह जान लेना चाहिये जिससे यह ज्ञान भीतर झलक जावे कि ये सब पर्याएं जीवकी शुद्ध परिणतिमें नहीं हैं किन्तु कर्मोंसे उत्पन्न हुई औपाधिक परिणाम व विभाव भाव हैं। कारण यह है कि एक मुमुक्षुको जीवका असल स्वभाव जान लेना उचित है। वह विना जीवकी कर्मकृत उपाधियोंके जाने हुए ठीक२ नहीं जाना जा सक्ता है। संसारी जीवोंकी १४ मार्गणाएं बहुत आवश्यक हैं। ये ऐसी अवस्थाएं हैं कि जिनमें हरएकमें संसारी जीव प्रायः पाए जाते हैं–

गइ इंदियं च काये जोए वेए कसाय णाणेय।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥२॥

(१) चार गति, (२) पांच इंद्रिय (३) छः पृथ्वी आदि काय (४) १५ योग (५) तीन वेद (६) ४ कषाय (७) ८ ज्ञान (८) ७ संयम (९) ४ दर्शन (१०) ६ लेश्या (११) २ भव्य (१२) ६ सम्यक्त (१३) २ संज्ञी (१४) २ आहार। यदि हम चार गतियोंमें संसारी जीवोंको तलाश करेंगे तो सब मिल जावेंगे, कोई भी संसारी जीव इन गतियोंसे बाहर नहीं है। इसी तरह

पांच इंद्रियोंमें भी मिल जावेंगे क्योंकि सब संसारी जीव एकेन्द्रियसे पंचेंद्रियतकमें गर्भित हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इन ५ स्थावरोंमें एकेन्द्रिय जीव तथा छठी त्रसकायमें द्वेन्द्रियसे पंचेंद्रिय तक सब जीव मिल जावेंगे–योग मनके चार सत्य, असत्य, उभय, अनुभव, वचनके चार सत्य, असत्य, उभय, अनुभय तथा कायके सात औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, अहारक, आहारक मिश्र तथा कार्मण इन १५ योगोंमेंसे एकेंद्रियके औदारिककाय व औदारिक मिश्र, द्विन्द्रियसे चौन्द्रिय तक तिर्यंचोंमें अनुभय वचन, औदारिककाय व औदारिक मिश्र, पंचेन्द्रिय असैनी तिर्यंचोंमें भी यही तीन योग हैं–पंचेंद्रियसैनी तिर्यंच व मनुष्योंमें मन, वचनके आठ व औदारिककाय, औदारिक मिश्र ऐसे १० योग हैं परन्तु मुनियोंके किन्हीं ऋद्धिधारियोंके आहारक व आहारकमिश्र भी होता है। नारकियों व देवोंमें ८ मन, वचनके व कायके दो वैक्रियिक काय व वैक्रियिक मिश्र काय ऐसे १० योग हैं–विग्रह गतिमें सब जीवोंके एक कार्मण योग ही होता है। जब कोई जीव किसी शरीरकी पर्याप्ति पूर्ण करता है उसके अन्तर्मुहूर्त तक शरीरकी रचनाकी योग्यता न प्राप्त हो तबतक औदारिक मिश्र व वैक्रियिकमिश्र व आहारकमिश्र योग होता है। तीन वेदोंमें देवोंके स्त्री व पुरुष दो ही वेद होते हैं। नारकियोंके व एकेन्द्रियसे लेकर चौइन्द्रिय तक सब नपुंसक वेदी होते हैं। पंचेद्रिय, तिर्यंच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं। वेदधारी सामान्यसे सर्व ही संसारी हैं।

कषायके मूल भेद चार व उत्तर भेद २५ हैं। इन कषायोंसे

खाली कोई भी सामान्यपने संसारी जीव नहीं हैं। एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय तक सब ही देव, नारकी, मनुष्य तथा तिर्यंचोंके क्रोध, मान, माया, लोभ चारों ही कषाय पाए जाते हैं, १०वें गुणस्थान तक हैं—ज्ञान ८ प्रकार हैं—मति अज्ञान व श्रुत अज्ञान सब ही ऐकेन्द्रियसे चौइंद्रिय तक जीवोंके तथा मिथ्यादृष्टी पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा मनुष्योंके पाए जाते हैं। सम्यग्दृष्टि तिर्यंच व मनुष्योंके सु मतिज्ञान व सुश्रुतज्ञान पाए जाते हैं—किन्हीं २ मिथ्यादृष्टि तिर्यंच व मनुष्योंके कुअवधि व सम्यग्दृष्टियोंके सुअवधि पाई जाती हैं। देवनारकी सम्यक्दृष्टीके मति, श्रुत, अवधि तीन सुज्ञान तथा मिथ्यादृष्टीके कुमति, कुश्रुत व कुअवधि ये तीन अज्ञान पाए जाते हैं। मनःपर्ययज्ञान सम्यग्दृष्टी मुनियोंके ही पाया जाता है। केवलज्ञान, केवल दर्शन, सर्वज्ञ वीतराग अरहंतोंके व सिद्धोंके होता है। संयम सात प्रकारका होता है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात चारित्र, देशसंयम तथा असंयम। इनमेंसे असंयम सर्व जीवोंके सामान्यपने चौथे गुणस्थानतक पाया जाता है। देशसंयमके धारी श्रावक तिर्यंच तथा मनुष्य होते हैं। शेष पांच प्रकार संयमके धारी सब मुनिगण होते हैं—यथाख्यात संयमके धारी अरहंत तथा सिद्ध भगवान होते है। दर्शन चार प्रकारका हैं—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रियतकके अचक्षुदर्शन, चौन्द्रिय व पंचेन्द्रियके चक्षुदर्शन पाया जाता है। सम्यग्दृष्टी तिर्यंच व मनुष्योंके अवधिदर्शन तथा केवलज्ञानी अरहंतोंके केवलदर्शन पाया जाता है। लेश्या कषायोंसे अनुरंजित योगप्रवृत्तिको कहते हैं।

कृष्ण, नील, कापोत अशुभ भाव हैं-पीत, पद्म, शुक्ल शुभ भाव हैं। नारकियोंके व एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय असैनी तकके तीन अशुभ लेश्याएं ही पाई जाती हैं। स्वर्गवासी देवोंके तीन शुभ लेश्याएं ही होती हैं। भवनवासी व्यंतर ज्योतिषीके पर्याप्त अवस्थामें पीत व अपर्याप्त अवस्थामें कृष्ण, नील, कापोत तीन अशुभ लेश्याएं पाई जाती हैं। पंचेद्रिय सैनी मनुष्य व तीर्थंचोंके छहों लेश्याएं यथासंभव पाई जाती हैं। सर्व संसारी जीवोंके दो विभाग हैं–जिनको सर्वज्ञ भगवानने देखा है कि इनमें मोक्ष होनेकी योग्यता है वे भव्य हैं व जिनको सर्वज्ञ भगवानने मोक्ष होनेके अयोग्य देखा है वे अभव्य हैं। सम्यक्तमें छः भेद हैं–मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक। एकेन्द्रियसे चौइंद्रिय असैनी पंचेन्द्रिय तक सब मिथ्यात्वभावमें हैं। पंचेन्द्रिय सैनीमें छहों सम्यक्त यथासंभव पाए जासक्ते हैं–जो सिद्ध भगवान, अरहंत भगवान व उसी भवसे कर्मके नाशके उद्यमी साधुजन हैं उनके क्षायिक सम्यक्त ही पाया जाता है। सर्व संसारी जीव सामान्यपने पंचेन्द्रिय सैनीके सिवाय असैनी मन रहित हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीरोंके योग्य वर्गणाओंके ग्रहण करनेवालोंको आहारक कहते हैं। जो इनको ग्रहण नहीं करते हैं उनको अनाहारक कहते हैं। विग्रहगतिमें सब जीव अनाहारक होते हैं। अयोगकेवलीके सिवाय अन्य जीव स्थूल शरीर सहित अवस्थामें आहारक होते हैं। समुद्‌घात केवली कुछ समय अनाहारक होते हैं।

इस तरह यदि विचार किया जावेगा तो चौदह मार्गणाओंके भीतर एक एकमें सब संसारी जीव ढूंढनेसे मिल जावेंगे। मोहकर्म

और योगके निमित्तसे जो आत्माके भावोंकी अवस्थाएं होती हैं इनको गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान पहला है। जिनको तत्वोंका श्रद्धान नहीं है व जो संसार अवस्थाको ही उपादेय मान रहे हैं, जो रातदिन विषयवासनामें मग्न हैं वे मिथ्यात्व कर्मके उदयसे पहले गुणस्थानमें हैं। यहां मन, वचन, कायके योग अनंतानुबंधी कषाय (जो सम्यक्तको नहीं होने देती) और मिथ्यादर्शनके उदयसे बहुत चंचल होते हैं जिससे यह जीव अंधकारमें पड़ा हुआ अपने आत्महितकी ओर ध्यान नहीं देता है। इस दरजेको वही उल्लंघन करसक्ता है जो जिनवाणीके उपदेशसे तत्वोंका मनन करता हुआ अथवा अन्य किसी कारणसे स्वरुचि प्राप्त करता हुआ अनंतानुबंधी और मिथ्यात्वको उपशम करके चौथे दरजेमें जाकर उपशम सम्यग्दृष्टी होजाता है। इस गुणस्थानको अविरतसम्यग्दर्शन कहते हैं। इस उपशमसम्यक्तका काल अंतर्मुहूर्तका है। इस मध्यमें जो मिथ्यात्व कर्मकी वर्गणाएं होती हैं उनके तीन भाग होजाते हैं—सम्यग्मिथ्यात्व कर्म या मिश्र जिनके उदयसे सच्चा झूठा मिला हुआ श्रद्धान होता है, सम्यक्त प्रकृति कर्म रूप जिसके उदयसे श्रद्धान बना रहता है परन्तु उसमें दोष लगता है। तीसरा मिथ्यात्व कर्म रूप बना रहता है। अंतर्मुहूर्तके बीतनेपर यदि मिथ्यात्व कर्मका उदय आता है तब वह जीव चौथेसे एकदम पहले गुणस्थानमें आजाता है। यदि अंतर्मुहूर्तके भीतर अधिकसे अधिक छः आवली काल बाकी रहनेपर अनंतानुबन्धी किसी कषायका उदय आजाता है वह दूसरे गुणस्थान सासादनमें आता है। वहां इतनी ही देर रहकर मिथ्यात्वके उदय होजानेसे नियमसे पहले मिथ्यात्व

गुणस्थानमें आजाता है। यदि मिश्रका उदय आजाता है तो चौथेसे तीसरे गुणस्थान मिश्रमें पहुंच जाता है। इस गुणस्थानका काल अंतर्मुहूर्त है। यहां ऐसे मिले हुए भाव होते हैं कि न यहां आयु कर्म बन्धता है और न यहां मरणको प्राप्त करता है। यहांसे या तो पहलेमें या फिर चौथेमें जासक्ता है। यदि उपशम सम्यक्तीके सम्यक्तप्रकृतिका उदय आजाता है चौथेमें ही बना रहकर क्षयोपशम या वेदक सम्यग्दृष्टी होजाता है। फिर यही सम्यग्दृष्टी जब अप्रत्याख्यानावरण कषायको ( जो श्रावकके व्रतोंको रोकती है ) उपशम कर देता है तब चौथेसे पांचवें देशविरत गुणस्थानमें आ जाता है। इस दरजेमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएं पाली जाती हैं। इसके आगेके दरजे साधुओंके लिये हैं। यही श्रावक जब प्रत्याख्यानावरण कषायको (जो साधु व्रतको रोकते हैं) उपशम कर देता है और संज्वलन व नो कषायका (जो पूर्ण चारित्रको रोकती हैं) मंद उदय प्राप्त करता है तब पांचवेंसे सातवें गुणस्थान अप्रमत्तविरतमें पहुंच जाता है, छठेमें चढ़ना नहीं होता है। इस सातवेंका काल अंतर्मुहूर्तका है। यहां ध्यान अवस्था होती है फिर संज्वलनादि तेरह कषायोंके तीव्र उदयसे प्रमत्तविरत नाम छठे गुणस्थानमें आजाता है। यहां साधुजन स्वाध्याय, उपदेश, आहार, विहारादि विकल्प सहित ध्यानके कार्य करते हैं। इसका भी काल अंतर्मुहूर्तका है। बार२ साधुजन छठे सातवें गुणस्थानको पलटा करते हैं। यहांतक धर्मध्यान होता है। इस पंचमकालमें आजकल सात ही गुणस्थान होसक्ते हैं। इसके आगेके सब गुणस्थान ध्यानरूप होते हैं। सातवें दरजेमें क्षयोपशमसम्यग्दृष्टी अनंतानुबंधी

कषायके कर्मोंके रसको अप्रत्याख्यानावरणादि रूप पलट देता है फिर यदि तीनों मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंका क्षय कर सके तो क्षायिक सम्यग्दृष्टी होजाता है। यदि यहां तीनोंका उपशम ही करे तो द्वितीय उपशम सम्यग्दृष्टी होजाता है। सातवेंसे आगे दो मार्ग हैं– एक उपशमश्रेणी, दूसरी क्षपकश्रेणी। जो उसी जन्मसे मोक्ष जानेवाले साधु हैं वे क्षायिकसम्यग्दृष्टी ही २१ कषायोंको क्षय करनेके लिये क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं जिसके चार गुणस्थान हैं। अपूर्वकरण आठवां, अनिवृत्तिकरण नौवां, सूक्ष्मसाम्पराय दसवां और क्षीणमोह बारहवां। जो इस श्रेणीमें नहीं चढ़ सके हैं वे उपशम श्रेणीमें चढ़ते हैं इसके भी चार गुणस्थान हैं, तीन तो वे ही आठवां, नौमा और दसवां और चौथा उपशांत मोह ग्यारहवां। क्षपकश्रेणीवाला ११ वेंमें नहीं आता है। नौमें गुणस्थान तक उपशम श्रेणीवाला शुक्लध्यानके बलसे २१ कषायोंमेंसे २०को उपशम कर व क्षपकश्रेणीवाला इनका क्षयकर मात्र सूक्ष्म लोभके उदयसे दसवें गुणस्थानमें आजाता है। इस लोभको भी उपशम कर उपशमवाला ग्यारहवेंमें व इसका क्षयकर क्षपकवाला बारहवेंमें आजाता है। ग्यारहवेंसे अंतर्मुहूर्त पीछे अवश्य कषायका उदय आजाता है तब वह साधु क्रमसे गिरकर सातवेंमें फिर आजाता है, दुबारा एक दफे फिर चढ़ सक्ता है और गिर सक्ता है। इस उपशम श्रेणीमें द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टी दोनों जा सक्ते हैं– आठवें व नौमें व दसवें गुणस्थानमें भाव अनंतगुणे समय२ निर्मल होते जाते हैं। आठवेंसे लेकर १२वें तकके गुणस्थानोंका काल अलग२ भी व मिलकर भी अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। १२वें वाला साधु

दूसरे शुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय-कर्मका बिलकुल क्षय करके तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानमें आकर अरहंत परमात्मा होजाता है तब गंधकुटीमें प्रभु अंतरीक्ष आकाशमें अधर विराजते हैं। अनन्तसुखी, सर्वज्ञ, वीतराग होजाते हैं—जीवोंके पुण्यके उदयसे व योगोंके निमित्तसे दिव्यध्वनि खिरती है जिससे धर्मोपदेश होता है। अरहंतोंका विहार भी होता है। इस गुणस्थानमें केवली अपनी आयुभर रहते हैं। जब मात्र इतना काल आयुमें शेष रहे कि जितनी देरमें अ, इ, उ, ऋ, लृ ये पांच लघु अक्षर बोले जाते हैं तब केवली चौदहवें गुणस्थान अयोगकेवलीमें आते हैं। यहां शेष चार अघातिया कर्मोंका क्षय करके शरीरसे रहित हो व पूर्ण शुद्ध हो सिद्ध परमात्मा होजाते हैं। तब चौदह गुणस्थानोंको लांघकर ऊर्ध्वगमन करके सिद्ध लोकमें सदाके लिये स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इनका विशेष स्वरूप श्री गोम्मटसार ग्रन्थसे जानना योग्य है।

इसतरह जीव तत्त्वको भले प्रकार समझ कर अजीव तत्त्वको जानना चाहिये—

वास्तवमें जबतक जीव अजीव दोनों तत्त्वोंको ठीक नहीं जाना जाता है तब तक अजीवसे भिन्न जीव तत्त्वका श्रद्धान नहीं होता है। भेद विज्ञानके लिये दोनोंका विस्तार पूर्वक स्वरूप जानना जरूरी है। बिना भेदविज्ञानके स्वानुभव नहीं होता है। जैसा श्री अमृतचंद्रस्वामीने समयसारकलशमें कहा है—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ।<br>
ज्ञानीजनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं ॥<br>
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं ।<br>
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ११ ॥

भावार्थ-ज्ञानी आत्मा लक्षणोंके द्वारा जीवसे अजीवको भिन्न जानकर अपने आत्माको प्रकाशमान रूप अनुभव करता है। अज्ञानी जीवके चित्तमें विना मर्यादाके चला आया हुआ यह मोह क्यों नृत्य कर रहा है यही बड़ा आश्चर्य है।

इस तरह जीव पदार्थके व्याख्यानका संकोच व अजीव पदार्थके व्याख्यानके प्रारम्भकी सूचनारूप एक सूत्रसे छठा स्थल पूर्ण हुआ। पहले ऐसा कह चुके हैं "जीवाजीवा भावा" इत्यादि नौ पदार्थोंके नामको कहते हुए स्वतंत्र गाथा सूत्र एक है। फिर जीव पदार्थका व्याख्यान करते हुए छः स्थलोंसे १९ सूत्रोंके द्वारा कथन है। इस तरह १६ गाथाओंमें नव पदार्थोंको कहनेवाले दूसरे महा अधिकारमें दूसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

पीठिका-आगे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा मतिज्ञान आदि विभावगुण व नर नारक आदि विभावपर्यायोंसे रहित व केवलज्ञानादि अनंतगुणस्वरूप तथा जीव आदि नौ पदार्थोंके भीतर प्राप्त यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध समयसार नामधारी व ग्रहण करने योग्य जो शुद्ध जीव पदार्थ है उससे विलक्षण जो अजीव पदार्थ है उसका व्याख्यान चार गाथाओंमें करते हैं। इन चार गाथाओंके मध्यमें अजीव तत्वके कहनेकी मुख्यतासे 'आयासकाल' इत्यादि पाठ क्रमसे गाथाएं तीन हैं। फिर भेदकी भावनाके लिये देहमें प्राप्त शुद्ध जीवका कथन करते हुए "अरसमरूवं" इत्यादि सूत्र एक है। इस तरह चार गाथाओंके दो स्थलोंके द्वारा अजीव तत्वके अधिकारमें व्याख्यान करते हुए समुदायपातनिका पूर्ण हुई।

उत्थानिका–आगे बताते हैं कि आकाश आदि द्रव्य अजीव क्यों हैं—

**आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।**
**तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥१३२॥**

आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः।
तेषामचेतनत्वं भणितं जीवस्य चेतनता ॥ १३२ ॥

**अन्वय सहित सामान्यार्थ**–(आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु) आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मास्तिकाय द्रव्य, अधर्मास्तिकाय द्रव्य इन पांच प्रकारके अजीव द्रव्योंमें (जीवगुणा) जीवोंके विशेष गुण (णत्थि) नहीं हैं (तेसिं) इनमें (अचेदणत्तं) अचेतनपना (भणिदं) कहा गया है (जीवस्स) जीवका गुण (चेदणदा) चैतन्य है।

**विशेषार्थ**–एक समयमें तीन जगत तीन कालके सर्व पदार्थोंको जानना यह जीवका चेतनपना स्वभाव है। यह स्वभाव इस अजीव द्रव्योंमें नहीं है इसीसे ये सब अचेतन हैं, मात्र जीव ही चेतन है।

**भावार्थ**–इस जगतमें चेतन और अचेतनपना प्रत्यक्ष प्रगट है इसीलिये द्रव्य समुदायके दो भेद होगए। जिसमें चेतनपना या समझ है वह जीव है तथा जिसमें चेतनपना नहीं है वह अजीव है। ये अजीव ५ प्रकारके इस लोकमें हैं। पुद्गल वह है जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार गुण पाए जाते हैं। हमारे देखने, सुनने, छूनेमें, सूंघने व स्वाद लेनेमें जो कुछ पदार्थ आरहे हैं वे सब पुद्गल हैं। बहुतसे सूक्ष्मस्कंध कार्मणवर्गणा आदि व परमाणु हमारी इंद्रियोंके गोचर नहीं है परन्तु उनकी सिद्धि उनके कार्योंके

देखनेसे होती है। ये सब पुद्गलद्रव्य हैं, पुद्गलद्रव्य सर्वत्र लोकमें भरे हैं। जीव भी सर्वत्र लोकमें हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव जो हमारी इंद्रियोंके गोचर नहीं हैं सर्व स्थानमें इस लोकमें व्याप्त हैं। जीव और पुद्गल दो द्रव्य हलनचलन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इनकी उपादान या मूल शक्तिसे चार कार्य होते हुए मालूम होते हैं–चलना, ठहरना, स्थानपाना और अवस्थाओंको बदलना। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त सहायक कारणोंकी आवश्यक्ता है इसलिये इन चार कार्योंके लिये सर्वको साधारण आवश्यक निमित्तकारणरूप अन्य चार अजीव द्रव्य हैं। चलनेमें उदासीनरूपसे सहकारी तीनलोक व्यापी अमूर्तीक धर्मद्रव्य है। ठहरनेमें उदासीन रूपसे सहकारी तीन लोक व्यापी अमूर्तीक अधर्मद्रव्य है। स्थान देनेमें सहकारी आकाशद्रव्य है जो अनन्त मर्यादा रहित है। अवस्थाओंके बदलनेमें सहकारी कालद्रव्य है जिसके कालाणु असंख्यात हैं जो लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंमें अलग अलग एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणु रूपसे ठहरे हुए हैं।

इस तरह ये पांच ज्ञानशक्तिसे शून्य हैं। इनसे भिन्न मैं जीव द्रव्य ज्ञानानंदमई हूं ऐसी भावना परम कल्याणकारिणी है। श्री योगीन्द्रदेव योगसारमें कहते हैं–

> छह दव्वह जे जिणकहिय णव पयत्थ जे तत्त।
> ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त॥ ३५॥
> सव्व अचेयण जाणि जिय एक सचेयण सार।
> जो जाणेविण परम मुणी लहु पावइ भवपार॥ ३६॥

भावार्थ–जिनेन्द्र भगवानने व्यवहारनयसे जो छः द्रव्य और नव पदार्थ कहे हैं उनको भी प्रयत्न पूर्वक जानना चाहिये

फिर उनमें और सबको अचेतन समझकर एक जीवको ही सचेतन और सार जानना चाहिये जिसको जानकर परम मुनि शीघ्र ही भवसागरके पार होजाते हैं।

उत्थानिका—आगे आकाश आदिके अचेतनपना सिद्ध करते हुए फिर भी उस अचेतनपनाका कारण बताएंगे ऐसा अभिप्राय मनमें धारण करके सूत्र कहते हैं—

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं॥१३३॥

सुखदुःखज्ञानं वा हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वं।
यस्य न विद्यते नित्यं तं श्रमणा विंदत्यजीवं॥ १३३॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जस्स) जिस द्रव्यमें (सुहदुक्खजाणणा) सुख तथा दुःखका जानपना (वा) या (हिदपरियम्मं) अपनी भलाईकी प्रवृत्ति (च) और (अहिदभीरुत्तं) अपने अहितसे भयपना (ण विज्जदि) नहीं पाया जाता है (तं) उसको (समणा) श्रमण या मुनिगण (णिच्चं) सदैव (अज्जीवं) अजीव (विंदति) कहते हैं।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव फूलकी माला, स्त्री, चंदन आदिको हितकारी मानते हैं तथा उसहीके कारण दान पूजा आदि करते हैं तथा वे ही अज्ञानी जीव सर्प, विष व कंटक आदिको अहितकारी मानते हैं परंतु सम्यग्ज्ञानी जीव अक्षय तथा अनन्तसुखको और उसके कारण रूप निश्चय रत्नत्रयमई परमात्म तत्त्वको हितकारी जानते हैं तथा आकुलताके उत्पन्न करनेवाले दुःखको और उसके कारणरूप मिथ्यादर्शन व रागादि भावोंमें परिणमन करते हुए आत्मद्रव्यको अहितकारी जानते हैं। इसतरह हित तथा अहितकी

परीक्षा रूप चैतन्यकी अवस्थाओंके अभाव होनेसे ये आकाश आदि पांच द्रव्य अचेतन हैं यह भाव है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने जीव और अजीवका भेद बहुत साफ२ खोल दिया है। वास्तवमें जो जड़ या चेतनासे शून्य पदार्थ हैं उनमें कुछ भी जानपना नहीं होता है। उनको अगर कोई प्यार करे व उनको शृंगारित करे तो वे जड़ पदार्थ कभी भी सुखका अनुभव नहीं कर सक्के इसी तरह यदि जड़ पदार्थोंको नष्ट किया जावे व सताया जावे तो वे दुःख भी नहीं मालूम कर सक्के हैं। जड़ पदार्थोंमें यह भी ज्ञान नहीं है कि अपने भले या बुरेका विचार कर सकें, न उनमें ऐसी प्रवृत्ति ही देखनेमें आती है कि वे किसी भोजन, पान, गंध आदिकी तरफ प्रीति कर सकें न उनमें किसी अपने नष्टकारक पदार्थसे भय ही पैदा होता है–जैसे और जंतु भय खाकर भागते हैं या कांपते हैं वैसे जड़ पदार्थ कुछ नहीं कर सक्के। इसी लिये पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल अजीव या अचेतन हैं।

हम जब त्रस प्राणियोंको देखते हैं तो उनमें सुख दुःखका अनुभव व हितकी तरफ प्रवृत्ति व अहितसे भय देखनेमें आता है। एक चींटीको यदि शक्कर डाल दी जावे तो वह उसको खाकर सुख अनुभव करने लगती है, यदि कहीं पानीमें बहने लगे तो वह तड़फड़ाती है तथा दुःख अनुभव करती है। बासको पाकर दूर २ से चीटियां जमा हो जाती हैं। इन छोटे २ जंतुओंमें भय संज्ञा रहती है। भयका कारण पाते ही भागने लग जाती हैं।

जो मनसहित पंचेन्द्रिय हैं उन पशु या पक्षियोंमें तो ये सब

बातें उसी तरह दिखती हैं जैसे हम मनुष्योंमें मालूम पड़ती हैं। वृक्षादि एकेन्द्रिय भी अपने हितार्थ अपने पोषक पदार्थ ग्रहण करते हैं व सताए जानेपर, पानी आदि न मिलनेपर मुरझा जाते हैं। सर्व संसारी जीवोंमें जैनसिद्धांतने चार संज्ञाएं बताई हैं—आहार, अर्थात् भोजनकी इच्छा, भय अर्थात् प्राणोंकी रक्षार्थ दूसरोंसे डरना, मैथुन अर्थात् एक दूसरेको स्पर्श करना, परिग्रह अर्थात् शरीरसे ममत्त्व रखना। यदि विचार करके देखा जायगा तो वृक्षोंमें भी ये चारों बातें प्राप्त होंगीं। वर्तमान विज्ञानने इस बातको अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है अतएव जहां२ जीवका निवास है वहीं यह ज्ञान है। जहां जीवत्व नहीं है वहां अपने हित या अहितका कुछ भी ज्ञान नहीं है। बस जिसमें यह चेतना नहीं है उनको अपने जीवके स्वभावसे भिन्न अनुभव करके हमें अपने जीव स्वभावका प्रेमी होजाना चाहिये। आत्मज्ञान व आत्मानुभवसे ही जीवका परम हित है जैसा कहा है। श्री योगसारमें कहा है—

अप्पसरूवइ जो रमइ छंडवि सहु ववहारु।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु॥ ८८॥
अजरु अमरु गुणगणणिलउ जहिं अप्पा थिर थाइ।
सो कम्महि णवि बंधयउ संचिय पुव्व विलाइ॥ ८९॥
जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कयावि।
तह कम्मेण ण लिप्पयइ जइ रइ अप्पसहावि॥ ९१॥

भावार्थ—जो सब व्यवहारको छोड़कर आत्माके स्वरूपमें रमता है सो ही सम्यग्दृष्टी है। वह संसारका किनारा पा लेता है। जिसका अजर, अमर, गुणसमुदाय रूप आत्मा आपमें थिर होजाता है वह नए कर्मोंको नहीं बांधकर संचित कर्मोंका क्षय करता है।

जैसे पानीसे कमलिनीका पता कभी लिप्त नहीं होता वैसे जो आत्म स्वभावमें रमता है वह कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि संस्थान आदि पुद्गलकी पर्याय जीवके साथ दूध पानीकी तरह मिली हुई होरही हें तौभी वे पर्यायें निश्चयसे जीवका स्वरूप नहीं हैं ऐसे भेदज्ञानको दर्शाते हैं–

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य वहू ॥ १३४ ॥

संस्थानानि संघाताः वर्णरसस्पर्शगंधशब्दाश्च ।
पुद्गलद्रव्यप्रभवा भवन्ति गुणाः पर्यायाश्च वहवः ॥ १३४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(संठाणा) समचतुरस्र आदि छः संस्थान (संघादा) औदारिक आदि पांच शरीरोंके मिलाप रूप स्कंध (वण्णरसप्फासगंधसद्दा य) पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श, दो गंध तथा सात शब्द (पोग्गलदव्वभवा) पुद्गल द्रव्यसे उत्पन्न (वहू) बहुतसे (गुणा) गुण (य) तथा (पज्जया) अवस्थाविशेष हैं ।

विशेषार्थ–इनमें वर्ण, रस, स्पर्श, गंध, तो पुद्गलद्रव्यके गुण हैं तथा संस्थान, संघातादि व शब्दके भेद या वर्णादिके भेद पुद्गल द्रव्यकी अनेक पर्यायें हैं। ये सब पुद्गलके गुण और पर्याय निश्चय-नयसे उस परमात्म स्वरूप आत्म पदार्थसे भिन्न हैं जो पुद्गलोंके विकारसे रहित है व केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टय सहित है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि सुन्दर असुन्दर जितने शरीरके आकार चार गति सम्बन्धी जीवोंके हैं वे सब आकार पुद्गलके रचे हुए हैं जीवके स्वभावसे यथार्थमें भिन्न हैं । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस तथा

कार्माण शरीरके स्कंध हैं वे भी नव पुद्गलसे रचे हुए हैं अतएव आत्माके निर्मल स्वभावसे भिन्न हैं। जो जगतमें रंग देखनेमें आते हैं, रस स्वादनेमें आते हैं, ठंडा, गरम आदि स्पर्श छूनेमें आते हैं, गंध जाननेमें आती हैं ये चारों ही पुद्गलके गुण हैं, आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न हैं, शब्द भी पुद्गलमई भाषा वर्गणाकी पर्याय है अतएव आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न है। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक, शुद्ध चैतन्यमई व परमानन्द स्वरूप है। यद्यपि जीव और पुद्गलके संयोगसे जीवके गुण बिलकुल गुप्त सदृश होरहे हैं तथापि लक्षण भेदसे भिन्न ही झलकते हैं। वास्तवमें पुद्गलमई शरीरोंके भीतर जीव इसी तरह छिपा है जिस तरह तिलोंमें तेल, बांसमें अग्नि व कठोर ईखमें रस छिपा रहता है। जो इन तीनोंको पहचानते हैं वे तिलोंको नष्ट कर भीतरसे तेल निकाल लेते हैं, बांसोंको घिसकर अग्नि प्रगट कर लेते हैं, ईखोंको पेलकर इक्षुरस निकाल लेते हैं। इसी तरह जो भेदविज्ञानी जीव अपने ही शरीरमें तिष्ठे हुए शुद्ध आत्मारामको पहचानते हैं वे ध्यानके बलसे एक दिन इस शरीरसे अपने आत्माको बिलकुल जुदा करलेते हैं। वास्तवमें जिनको दो मिले हुए पदार्थोंमें उनके भिन्न२ स्वरूपका ज्ञान है वे ही युक्ति या प्रयोगसे एकको दूसरेसे भिन्न कर सक्ते हैं।

श्री अमितगति महाराज सामायिकपाठमें कहते हैं—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो ।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि ॥
दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहतेर्दीप्यते सर्वदा ।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य वै ॥ ६५

भावार्थ—जिन साधुओंकी ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दर्शनरूपी

पवनसे प्रेरित हो अधिक प्रकाशमान है व जिस अग्निने पापरूपी ईंधनको जला दिया है इस कारण सर्व जीवादि तत्वोंको स्पष्टपने प्रकाश करनेवाली है व जिनके मनसे अज्ञान रूपी अंधकार नष्ट होगया है इसलिये उनका अंतःकरण सदा ही प्रकाशमान है ऐसे उत्कृष्ट चारित्रके धारनेवाले मुनिराज किसको आश्चर्यकारी न होंगे।

इस तरह पुद्गल आदि पांच द्रव्य अजीव हैं इस कथनकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा पहला स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-शिष्यने प्रश्न किया कि जब संस्थान आदि जीवका स्वरूप नहीं है तब जीवका स्वरूप क्या है? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं-

अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥१३४॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥ १३४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवम्) इस जीवको (अरसम्) रसगुण रहित, (अरूवम्) वर्णगुण रहित, (अगंधं) गंध गुणरहित (अव्वतं) अप्रगट, (असद्दं) शब्द पर्याय रहित (चेदणा गुणम्) चेतनागुण सहित, (अलिंगग्गहणं) इन्द्रियादि चिन्होंसे नहीं ग्रहणे योग्य तथा (अणिद्दिट्ठसंठाणं) पुद्गलमई किसी विशेष आकारसे रहित (जाण) जानो।

विशेषार्थ-यह जीव न तो रसगुण सहित पुद्गल द्रव्य है, न रस गुण मात्र है न रसको ग्रहण करनेवाली पुद्गलमई जिह्वा नामकी द्रव्य इंद्रियरूप है और न यह जिह्वा इंद्रियके द्वारा अपनेको व

दूसरोंको रस ग्रहणके समान ग्रहण योग्य या जानने योग्य है–अर्थात् जैसे जिह्वासे रसको जान सक्ते हैं वैसे आत्माको नहीं जान सक्ते हैं और न यह आत्मा निश्चयनयसे द्रव्य इंद्रियके द्वारा स्वयं रसको जानता है। भावार्थ–निश्चयनयसे आत्मा स्वयं विना किसीकी सहायताके स्वपर द्रव्यको जाननेवाला है। द्रव्येन्द्रियके द्वारा परोक्ष ज्ञान है सो कर्म बन्धरूप अशुद्ध विभाव अवस्थाकी अपेक्षासे है। इसी ही प्रकार यह जीव रसके आस्वादको जाननेवाली क्षयोपशम रूप जो भाव इन्द्रिय हैं उस रूप भी निश्चयसे नहीं है तथा जैसे भावेंद्रियके द्वारा अपनेको या दूसरेको रसका ज्ञान होता है वैसा आत्माका ज्ञान नहीं होसक्ता है और न यह भावेंद्रियके द्वारा ही निश्चयसे रसका जाननेवाला है तथा यह जीव सम्पूर्ण पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले अखंड एकरूप प्रकाशमान जो केवलज्ञान उस स्वरूप है इसलिये निश्चयसे यह उस खंड ज्ञानरूप नहीं है जो ज्ञानरसको आस्वादन करनेवाली भावेंद्रियके द्वारा कार्यरूप, रसका ज्ञानमात्र रूप उत्पन्न होता है, तैसे ही यह आत्मा अपनी ज्ञानशक्तिसे रसको जानता है परन्तु उस रस रूप ज्ञेयसे तन्मय नहीं होता है। इत्यादि हेतुओंसे यह जीव अरस है। इसी ही तरह यह जीव वर्ण, गंध, शब्द, स्पर्शसे रहित है। इनमें भी रसकी तरह सर्व व्याख्यान समझना योग्य है। तथा जैसे क्रोध, मान, माया, लोभके चतुष्टय, मिथ्यात्व व रागादिमें परिणमन करनेवाले तथा निर्मल आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे रहित जीवोंको प्रगट झलकते हैं वैसे उनको यह परमात्मस्वरूप जीव नहीं झलकता है इसलिये यह अव्यक्त है। यह जीव निश्चयसे समचतुरस्र आदि छः शरीरके संस्थान या आकारोंसे रहित अखंड एक-

प्रकाशमान परमात्मस्वरूप है इसलिये इसमें पुद्गलकर्मोंके उदयसे प्राप्त समचतुरस्र आदि छः संस्थान नहीं हैं। इसलिये यह जीव संस्थान रहित है तथा जैसे अशुद्ध आत्मा यह अनुमान स्वरूप परोक्ष ज्ञानके द्वारा व्यवहारनयसे उसीतरह पहचान लिया जाता है जिस तरह धूमसे अग्निका अनुमान करते हैं। जैसे यह शुद्धात्मा यद्यपि रागादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानसे उत्पन्न परमानंदमई अनाकुलतामें भले प्रकार स्थित सच्चे सुखामृत जलसे पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए परम योगियोंको प्रत्यक्ष है तथापि जो ऐसे योगी नहीं हैं उनको प्रत्यक्ष अनुभवमें नहीं आता है इसलिये यह जीव अलिंग ग्रहण है तथा यह जीव केवलज्ञान मई शुद्ध चेतना गुण सहित है इसलिये चेतनारूप है जैसा कि नीचेके श्लोकमें कहा है—

यत्सर्वाणि चराचराणि विविधद्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा॥
जानीते युगपत्प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥

भावार्थ—जो सर्व चर अचर नानाप्रकार द्रव्योंको, उनके गुणोंको, उनकी भूत, भविष्य व वर्तमान सर्व पर्यायोंको सर्व प्रकारसे सदा ही एकसाथ हरएक क्षण जानता रहता है वह सर्वज्ञ कहा जाता है। उस सर्वज्ञ, जिनेश्वर तथा महान वीर भगवानको नमस्कार हो।

हे शिष्य! ऊपर कहे प्रकार गुणोंसे विशिष्ट शुद्ध जीव पदार्थको जानो, यह भाव है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने जीवका वास्तविक स्वरूप बता दिया है। ऊपरके व्याख्यानसे यह स्पष्ट है कि यह जीव शुद्ध ज्ञान चेतनामई तथा अमूर्तीक होनेसे किसी भी पुद्गलमई

यंत्रसे व रागद्वेषरूप विभाव भावसे जाना नहीं जासक्ता, वह तो स्वसंवेदनगोचर है। जो ज्ञानी जीव अपने उपयोगको सर्व ज्ञेय पदार्थोंसे हटाकर व राग, द्वेष, मोहके विकल्पोंसे शून्य कर व एकाग्र होकर अपनेको ही देखता है उसी ही ज्ञानी महात्माको भावश्रुत-ज्ञानके द्वारा इस आत्माका प्रत्यक्ष होता है। साधारण व्यक्ति शास्त्रोंके द्वारा एक संकेत मात्र आत्माको उसी तरह जानते हैं जिस तरह किसी परदेशमें पैदा होनेवाले फलका ज्ञान किसीको शब्दोंके द्वारा कराया जावे। वह उस फलकी मिष्टता आदिके गुणोंको समझ तो जाता है परन्तु उसको उस फलके चाखे विना या देखे विना उसका सच्चा स्वाद व सच्चा स्वरूप नहीं मालूम होसक्ता है। जब फल उसके पास आयगा और वह चाखेगा तब ही वह उसका सच्चा बोध प्राप्त करेगा। इसी ही तरह मात्र शास्त्रके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान नहीं होता है। जब उपयो-गको थिर करके पुनः पुनः आत्मस्वरूपको विचारा जायगा तब बहुत कालके अभ्याससे जब उपयोग उस सूक्ष्म द्रव्यको पकड़ लेगा तब उसका अनुभव होगा। उसी समय आत्माका स्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होगा। साक्षात प्रत्यक्ष ज्ञान आत्माका सिवाय सर्वज्ञके और किसी अल्पज्ञ महात्माको भी नहीं होसक्ता है परंतु भेदज्ञानके द्वारा आत्माका शुद्ध स्वरूप दृढ़ श्रद्धा व ज्ञानका विषय होजाता है, इसीको स्वानुभव कहते हैं, इसीको स्वरू-पाचरण चारित्र कहते हैं। यही ज्ञान योगियोंके लिये अभेद-रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग है। यही वह जहाज है जिसपर चढ़कर कर्मबंधमई संसारको पार कर यह जीव शुद्ध स्वभावकी प्राप्तिरूप

मोक्षभावको पा लेता है। यहां आचार्यने इस आत्माको खंड ज्ञानसे रहित अखंड एक सामान्य ज्ञानाकार भावका ही विषय माना है। बिना मनन किये तथा परपदार्थोंसे मोह छूटे आत्माका साक्षात्कार नहीं होता है। जैसे झूठे व सच्चे रत्नकी पहिचान वारवार परीक्षाके अभ्याससे ऐसी दृढ़ होजाती है कि फिर वह परीक्षक देखते मात्र ही सच्चे झूठे रत्नको जैसाका तैसा समझ लेता है उसी तरह पुनः पुनः अभ्यासकी दृढ़तासे ही आत्माका लाभ होता है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्रने समयसारकलशामें कहा है:—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ।
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ॥
तदयमुदयदात्मा राममात्मानमात्मा ।
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ २८ ॥

भावार्थ—जिस तरह बने लगातार भेदज्ञानके अभ्याससे जिसको निश्चयसे शुद्ध आत्माका अनुभव होजाता है वह आत्मा प्रकाशमान आत्माके उपवनमें पहुंचकर पर पदार्थकी ओर परिणतिके रुक जानेसे शुद्ध स्वभावको ही प्राप्त कर लेता है।

श्री योगीन्द्रदेव योगसारमें कहते हैं—

इक्कलउ इन्द्रिय रहिउ मणवयकाय ति सुद्धि ।
अप्पाअप्प मुणेह तुहुं लहु पावइ सिवसिद्धि ॥ ८५ ॥

भावार्थ—तू मन वचन काय शुद्ध करके इंद्रियोंके विषयोंसे रहित हो व अकेलापना पाकर अपनेसे ही अपने आत्माको मनन कर तो तू शीघ्र ही मोक्षकी सिद्धि प्राप्त कर सकेगा।

इस तरह भेद भावनाके लिये सर्व प्रकारसे ग्रहण करने

योग्य जो शुद्ध जीव है उसका कथन करते हुए एक सूत्रसे दूसरा स्थल पूर्ण हुआ। इस तरह चार गाथा तक दो स्थलोंमें नव पदार्थोंको बतानेवाले दूसरे महा अधिकारके मध्यमें तीसरा अंतर अधिकार पुर्ण हुआ।

पीठिका–आगे कोई शंका करे कि जीव द्रव्यके साथ पुद्गल सर्व प्रकारसे तन्मई होरहा है इसलिये जीव पुद्गलकी संयोग रूप परिणतिमई एक ही पदार्थ है, अथवा अन्य कोई शंका करे कि दोनों पदार्थ जीव और पुद्गल शुद्ध हैं तथा वे सर्वप्रकारसे परिणमन रहित हैं इसलिये, पुण्य पाप आदि पदार्थ ही सिद्ध नहीं होते हैं तब यह दोष होगा कि न जीवके बंध सिद्ध होगा न मोक्ष। इस दोषके दूर करनेके लिये यह बात जाननी चाहिये कि एकांतसे ये जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य न परिणामी हैं और न अपरिणामी हैं इसलिये किसी अपेक्षासे ये दोनों परिणमनशील हैं। परिणमनशील मानते हुए ही आश्रव आदि सात पदार्थोंकी सिद्धि होसक्ती है। तब फिर शिष्यने कहा–यद्यपि इन दोनोंके किसी अपेक्षासे परिणमनशील होते हुए पुण्य, पाप आदि सात पदार्थोंकी सिद्धि होजाती है तथापि इन सात पदार्थोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। जीव, अजीवसे ही काम पूरा होजाता है क्योंकि वे सात पदार्थ इन जीव और पुद्गलकी ही पर्यायें हैं। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि भव्य जीवोंको त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वका स्वरूप दिखानेके लिये इन सात पदार्थोंका कथन है, सो ही दिखाते हैं। दुःख त्यागने योग्य तत्त्व है, दुःखका कारण संसार है, संसारके कारण आस्रव और बंध पदार्थ हैं। इन आस्रव और बंधका कारण

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। मुख्य ग्रहण करने योग्य तत्त्व है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्षके कारण संवर और निर्जरा दो पदार्थ हैं। इन दोनोंके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इस तरह पूर्वमें कहे हुए जीव और अजीव दो पदार्थोंको लेकर आगे कहने योग्य पुण्य, पाप आदि सात पदार्थोंके साथ दोनों मिलकर समुदायसे नौ पदार्थ होजाते हैं। इस तरह नव पदार्थोंकी स्थापनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

उत्थानिका—इसके आगे जो किसी अपेक्षासे जीव और पुद्गलको परिणमन शक्तिधारी कहकर उनका संयोग भाव सिद्ध किया गया है यही संयोग आगे कहने योग्य पुण्य, पाप आदि सात पदार्थोंका कारण या बीज है ऐसा जानना चाहिये। इनको तीन गाथाओंमें बताते हैं—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१३६॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१३७॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥

यः खलु संसारस्थो जीवस्ततस्तु भवति परिणामः।
परिणामात्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गतिः ॥ १३६ ॥
गतिमधिगतस्य देहो देहादिन्द्रियाणि जायंते।
तैस्तु विषयग्रहणं ततो रागो वा द्वेषो वा ॥ १३७ ॥
जायते जीवस्यैवं भावः संसारचक्रवाले।
इति जिनवरैर्भणितोऽनादिनिधनः सनिधनो वा ॥ १३८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(खलु) वास्तवमें (जो) जो कोई (संसारत्थो) संसारमें भ्रमण करनेवाला (जीवो) अशुद्ध आत्मा है (तत्तो) उससे (दु) ही ( परिणामो ) अशुद्धभाव (होदि) होता है ( परिणामादो ) अशुद्ध भावसे ( कम्मं ) कर्मोंका बंध होता है ( कम्मादो ) उन कर्मोंके उदयसे ( गदिसु गदी ) चारगतियोंमेंसे कोई गति ( होदि ) होती है। ( गदिम् ) गतिको (अधिगदस्स) प्राप्त होनेवाले जीवके (देहो) स्थूल शरीर होता है (देहादो) देहके सम्बन्धसे (इंदियाणि) इंद्रियें (जायंते) पैदा होती हैं। (तेहिं दु) उनही इंद्रियोंसे ही (विषयग्गहणं) उनके योग्य स्पर्शनादि विषयोंका ग्रहण होता है (तत्तो) उस विषयके ग्रहणसे (रागो व दोसो वा) राग या द्वेषभाव होता है। (एवं) इस ही प्रकार (संसारचक्कवालम्मि) इस संसाररूपी चक्रके भ्रमणमें (जीवस्स) जीवकी (भावो) अवस्था (जायदे) होती रहती है (इदि) ऐसा ( जिणवरेहिं ) जिनेन्द्रदेवोंने ( भणिदो ) कहा है। यह अवस्था ( अणादिणिधणो ) अभव्योंकी अपेक्षा अनादिसे अनंतकाल तक रहती है ( सणिधणो वा ) तथा भव्योंकी अपेक्षा यह अनादि होकर भी अंत सहित है।

विशेषार्थ-यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावका धारी है। तथापि व्यवहारनयसे अनादिकालसे कर्म बन्धमें होनेके कारण यह जीव अपने ही अनुभवगोचर अशुद्ध भाव करता है। इस अशुद्ध भावसे कर्मोंसे रहित व अनन्तज्ञानादि गुणमई आत्माके स्वभावको ढकनेवाले पुद्गलमई ज्ञानावरण आदि कर्मोंको बांधता है। इन कर्मोंके उदयसे आत्माकी प्राप्ति रूप पंचमगति मोक्षके सुखसे विलक्षण देव, मनुष्य, नरक,

तिर्यंच इन चार गतियोंमेंसे किसीमें गमन करता है। वहां शरीर रहित चिदानंदमई एक स्वभाव रूप आत्मासे विपरीत किसी स्थूल शरीरकी प्राप्ति होती है। उस शरीरके द्वारा अमूर्त अतींद्रिय परमात्म स्वरूपसे विरोधी इंद्रियें पैदा होती हैं। इन इंद्रियोंसे ही पंचेंद्रियोंके विषयोंसे रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे उत्पन्न जो वीतराग परमानंदमई एक स्वरूप सुख है उससे विपरीत पंचेंद्रियोंके विषय सुखमें परिणमन होता है। इसीके द्वारा रागादि दोष रहित व अनन्त ज्ञानादि गुणोंके स्थानभूत आत्म तत्वसे विलक्षण राग और द्वेष पैदा होता है। रागद्वेष रूप परिणामोंके निमित्तसे फिर भी पूर्वके समान कर्मोंका बंध होता है। इस तरह रागादि परिणामोंका और कर्मोंके बन्धका जो परस्पर कार्य–कारण भाव है वही आगे कहे जानेवाले पुण्य, पाप आदि पदार्थोंका कारण है ऐसा जानकर पूर्वमें कहे हुए संसार–चक्रके विनाश करनेके लिये अव्याबाध अनन्त सुख आदि गुणोंका समूह अपने आत्माके स्वभावमें रागादि विकल्पोंको त्यागकर भावना करनी योग्य है। यह जीव किसी अपेक्षा परिणमनशील है इसलिये अज्ञानी जीव विकाररहित स्वसंवेदन ज्ञानको न पाकर पाप पदार्थके आस्रव और बंधका कर्ता होजाता है, कभी मंद मिथ्यात्वके उदयसे देखे, सुने, अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छा रूप निदान बंधसे परम्पराय पापको लानेवाले पुण्य पदार्थका भी कर्ता होजाता है। किन्तु जो ज्ञानी जीव है वह विकार रहित आत्मतत्त्वमें रुचि रूप तथा उसके ज्ञानरूप और उसीमें निश्चल अनुभव रूप ऐसे रत्नत्रयमई भावके द्वारा संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थोंका कर्ता होता है और जब पूर्वमें

कहे हुए अभेद या निश्चय रत्नत्रयमें ठहरनेको असमर्थ होता है तब निर्दोष परमात्म स्वरूप अर्हंत् व सिद्ध तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु इनकी पूर्ण व विशेष भक्ति करता है जिससे वह संसारके नाशके कारण व परम्परासे मुक्तिके कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष पुण्य प्रकृतियोंको विना इच्छाके व निदान परिणामके बांध लेता है। इन प्रकृतियोंका बंध भविष्यमें भी पुण्य बंधका कारण है इस तरह वह पुण्य पदार्थका कर्ता होता है। इस प्रकारसे अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव व बन्ध इन चार पदार्थोंका कर्ता है तथा ज्ञानी जीव संवर, निर्जरा, व मोक्ष इन तीन पदार्थोंका मुख्यपने कर्ता है ऐसा भाव है।

भावार्थ—इन तीन गाथाओंमें आचार्यने यह बात सिद्ध की है कि यह जीव कूटस्थ नित्य नहीं है किन्तु अनेक प्रकार अशुभ, शुभ व शुद्ध परिणामोंको करनेके कारण परिणमनशील है। तब ही यह विचित्र कर्म बांधकर उनका फल भोगा करता है। जीव और कर्मका अनादिकालसे प्रवाह रूप संयोग सम्बन्ध चला आता है। उन कर्मोंके कारण रागी, द्वेषी, मोही जीवके नाना प्रकारके अशुद्ध भाव होते हैं जिनका निमित्त पाकर स्वयमेव कार्मण वर्गणाएं आजाती हैं और आत्माके प्रदेशोंमें स्थित पुरातन कर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त होजाती हैं—उन कर्मोंमेंसे जैसा आयु व गति कर्म बांधा होता है उसीके अनुसार किसी वर्तमान शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको धारण कर लेता है वहां स्थूल शरीरमें जितनी इंद्रियें होती हैं उनके द्वारा रागद्वेष रूप पदार्थोंको जानता हुआ फिर भी नवीन कर्म बांध लेता है। फिर मरकर आयु व गति बन्धके

अनुसार किसी अन्य शरीरको प्राप्त कर लेता है। वहां भी वही रागद्वेष रूप क्रिया करता रहता है। इस तरह यह अज्ञानी जीव आत्मज्ञानको न पाकर इस संसारका चक्कर लगाया करता है। तब अपने भावोंसे पाप पुण्यका आस्रव व बंध करता हुआ उस ही पाप पुण्य व आस्रव व बंध पदार्थका कर्ता होजाता है। जब किसी ज्ञानी जीवको भेदज्ञानके बलसे सम्यग्दर्शनका लाभ होता है तब वह पुण्य, पाप, आस्रव, व बंधको त्याग योग्य जानता है इससे इनका मुख्यपने कर्ता न होता हुआ मोक्षमार्गमें आरूढ़ होनेके कारण तथा मोक्षकी गाढ़ रुचिके कारण बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है व संसारके कारणीभूत कर्मोंका आस्रव न करके संवर करता है। इस तरह संवर व निर्जरा पदार्थका कर्ता होता है। वही सम्यग्दृष्टी जीव जब महामुनि हो व मोक्ष साधन योग्य संहननादि सामग्री पाकर उत्कृष्ट तप करता है तब गुणस्थानोंके मार्गसे क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवली पश्चात् चार अघातिया कर्मोंका भी नाशकर मोक्ष प्राप्त करलेता है। तब वह मोक्ष पदार्थका कर्ता होता है। यहां आचार्यने यही बताया है कि यह जीव अपने भावोंसे ही पुण्यपाप आदि सात पदार्थोंका कर्ता है। संसारके भ्रमणमें अनेक संकट व बाधाएं होती हैं व इंद्रियोंके सुखोंसे कभी तृप्ति नहीं होती है, किन्तु इन ही इंद्रिय, विषय व कषायोंके कारण यह जीव पापको बांधकर दुःखमई अवस्थाओंको प्राप्त करता है। इसलिये विवेकी आत्माको उचित है कि वह तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करके आत्म शुद्धिका यत्न करे, निश्चय रत्नत्रयकी भावना करे, स्वरूपानन्दकी मगनता प्राप्त करे, इन मानव जन्मका

समय बहुत अल्प है उसको सफल करे, जरा न सतावे उसके पहले ही स्वहित कर लेना योग्य है। सारसमुच्चयमें कहा है:-

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य यावच्चेन्द्रियसम्पदः।
तावद्युक्तं तपः कर्तुं वार्धक्ये केवलं श्रमः॥ १७॥
धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव।
आयुकर्माणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि॥ ६०॥

भावार्थ-जबतक शरीरमें तंदुरुस्ती है व जबतक इंद्रियोंमें शक्ति मौजूद है तबतक तप कर लेना योग्य है। वृद्धावस्थामें मात्र परिश्रम है तब तपकी सिद्धि कठिन है। जबतक आयु दृढ़ है तबतक धर्मकार्यमें बुद्धि करनी योग्य है। जब आयु कर्म क्षय हो जायगा तब तू क्या करेगा?

इस तरह नव पदार्थोंके बतानेवाले दूसरे महाअधिकारके मध्यमें पुण्य पाप आदि सात पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग तथा वियोगरूप परिणतिसे उत्पन्न हुए हैं इस कथनकी मुख्यता करके तीन गाथाओंके द्वारा चौथा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

पीठिका-आगे पुण्य व पापके अधिकारमें चार गाथाएं हैं। इन चार गाथाओंके मध्यमें पहले यह कथन है कि जो भाव पुण्य या भाव पापके योग्य भाव होते हैं वे परमानन्द मई, एक स्वभावरूप शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं इस सूचनाकी मुख्यतासे "मोहो व रागदोसो" इत्यादि गाथा सूत्र एक है फिर इस व्याख्यानकी मुख्यतासे कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप शुद्ध आत्मासे भिन्न व त्याग योग्य ये द्रव्य या भावरूप पुण्य तथा पाप हैं "सुहपरिणामो इत्यादि" सूत्र एक है। फिर नैयायिकके मतको निराकरण करते हुए पुण्य तथा पाप दोनोंको मूर्तीक समर्थन करते हुए "जम्हा कम्मस्स फलं"

इत्यादि सूत्र एक है। फिर अनादिकालसे साथ आए हुए जीव और कर्मोंके मूर्तिकपना है इसलिये इन दोनोंमें स्पर्शपना और बंधपना स्थापित करनेके लिये तथा यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव अमूर्तीक है तथापि जीवके साथ अनादिकालसे बंधकी परिपाटी चली आरही है इस अपेक्षासे व्यवहारनयसे मूर्तीक है ऐसा कहकर मूर्तीक जीवके साथ मूर्तीक कर्मोंका बंध होता है यह बतानेके लिये "मुत्तोपासदि" इत्यादि सूत्र एक है। इस तरह चार गाथाओंमें पंचम अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे पुण्य तथा पापके योग्य भावोंका स्वरूप कहते हैं—

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥१३१॥

मोहो रागो द्वेषश्चित्तप्रसादश्च यस्य भावे।
विद्यते तस्य शुभो वा अशुभो वा भवति परिणामः ॥ १३१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जस्स) जिस जीवके (भावम्मि) भावमें (मोहो) मिथ्यात्वरूप भाव (रागो) रागभाव (दोसो) द्वेषरूप भाव (य) और (चित्तपसादो) चित्तका आल्हाद रूप भाव (विज्जदि) पाया जाता है ( तस्स ) उस जीवके ( सुहो ) शुभ ( वा ) तथा ( असुहो ) अशुभ (वा) ऐसा (परिणामो) भाव (होदि) होता है।

विशेषार्थ—दर्शन मोह कर्मके उदय होते हुए निश्चयसे शुद्धात्माकी रुचि रूप सम्यक्त नहीं होता और न व्यवहार रत्नत्रय रूप तत्त्वार्थकी रुचि ही होती है ऐसे वहिरात्मा जीवके भीतर जो विपरीत अभिप्रायरूप परिणाम होता है वह दर्शन मोह या मोह

है। उसी ही आत्माके नाना प्रकार चारित्र मोहका उदय होते हुए न निश्चय वीतराग चारित्र होता है और न व्यवहार व्रत आदिके परिणाम होते हैं ऐसे जीवके भीतर जो इष्ट पदार्थोंमें प्रीतिभाव सो राग है और अनिष्ट पदार्थोंमें अप्रीति भाव सो द्वेष है। उस ही मोहके मंद उदयसे जो मनकी विशुद्धि होना उसको चित्तप्रसाद कहते हैं। यहां मोह व द्वेष तथा विषयादिमें अशुभराग सो अशुभ भाव है तथा दान पूजा व्रत शील आदि रूप जो शुभ राग या चित्तका आल्हाद होना है सो शुभभाव है, यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने भाव पाप और भाव पुण्यका स्वरूप बताया है जो क्रमसे द्रव्यपाप और द्रव्य-पुण्यके बंधके निमित्त हैं। मिथ्यात्व भाव बड़ा प्रबल भाव पाप है जिसके कारण इस भावके धारी जीवमें पर्याय बुद्धि होती है जिससे वह शरीरमें और शरीर सम्बन्धी इंद्रियोंके विषयोंमें और उनके सहकारी पदार्थोंमें अतिशय करके लीन होता है। और अपने सांसारिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अनेक अन्याय रूप उपायोंसे भी काम लेता है। इसलिये सर्व पापभावोंका मूल कारण यह मिथ्यादर्शनरूप भाव पाप है। इसहीके निमित्तसे अनंतानुबन्धी कषाय जनित राग और द्वेषकी प्रवृत्ति होती है जिससे यह प्राणी अपने इष्ट पदार्थोंमें तीव्र राग तथा अनिष्ट पदार्थोंसे तीव्र द्वेष करता है। कभी२ मिथ्यादृष्टीके भी मंद मिथ्यात्व और मंद अनंतानुबन्धी कषायके उदयसे दान पूजा व्रत शील आदि सम्बन्धी रागभाव होता है जिससे वह भाव पुण्यरूप भी होजाता है तब पुण्य भी बांधता है परन्तु यह पुण्य-भाव परम्परा पापका ही कारण होता है इसीलिये आचार्योंने

धर्मध्यान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे पहले नहीं माना है, तौ भी मिथ्यादृष्टी सातावेदनीय, देवायु, उच्चगोत्र आदि पुण्यकर्मोंका बंध करसक्ता है इसलिये उस द्रव्य पुण्यबंधके हेतुरूप भावपुण्यका होना उसके संभव है। पंचेंद्रिय सैनी जीवके लेश्या भी छहों पाई जाती हैं जिनमें पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएं हैं। इनके परिणामोंमें अधिकतर पुण्य कर्मका बंध होता हैं। वास्तवमें पापकर्मका उदय अधिक आकुलताका कारण है जब कि पुण्यकर्मका उदय कुछ देर आकुलताके घटानेका कारण है—वर्तमान कालमें उदय आकर पापकर्म जब दुःखदाई है तब पुण्यकर्म सुखदाई है। यद्यपि बंधकी अपेक्षा दोनों ही त्यागने योग्य हैं तथापि जबतक मोक्ष न हो तबतक पुण्य कर्मका उदय साताकारी है तथा मोक्षके योग्य सामग्री मिलानेका भी कारण है। इसीलिये पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें बहुत ही अच्छा कहा है—

**वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं ।**
**छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥**

भावार्थ—हिंसा आदि पंच पापोंकी अपेक्षा जीव दया, सत्य वचन आदि पांच व्रतोंका पालना बहुत अच्छा है क्योंकि हिंसादि पापोंसे जब नर्कमें जाता है तब जीवदया आदि पुण्य कर्मसे देव होसक्ता है। नर्कमें जब असाताकारी सम्बन्ध है तब देवगतिमें साताकारी सम्बन्ध है। जबतक मोक्ष न हो, देवगतिमें व मनुष्य गतिमें रहना नर्क गति व पशु गतिमें रहनेकी अपेक्षा उसी तरह ठीक है जैसे किसीको आनेकी राह देखनेवाले दो पुरुषोंमेंसे एकका छायामें खड़ा रहना दूसरेके धूपमें खड़े रहनेसे बहुत अच्छा है।

भीतरसे जब स्वाभाविक प्रसन्नता होती है तब ही चित्ताह्लाद कहलाता है। यह प्रसन्नता संक्लेश भावके घटने और विशुद्ध भाव या मंद कषायके बढ़नेसे होती है। जैसे किसीको दयापूर्वक दान देनेसे भीतरमें हर्ष होता है—इसहीका नाम चित्तप्रसाद है। जो दुष्ट भावधारियोंके चित्तमें दूसरोंको दुःखी होते देखकर व विषय-भोगियोंके चित्तमें इच्छित कामभोगके विषय मिलनेपर हर्ष होता है वह संक्लेश भावरूप है। तीव्र कषाय क्रोध, या लोभसे उत्पन्न है सो चित्तप्रसाद नहीं है। जहां कषायकी मंदता होकर विना किसी बनावटके अंतरंगमें आनन्द होजाता है उसे ही चित्तप्रसाद कहते हैं। परोपकार व सेवाश्रममें यह चित्तप्रसाद अवश्य होता है इसीसे परोपकारको पुण्य कहा है।

रागको भी पाप व पुण्य दो रूप कहा है। जहां अप्रशस्त राग है अर्थात् जहां विषयोंके व कषायोंके पुष्ट करनेका राग है, वह पापरूप राग है। तथा जहां प्रशस्त राग है अर्थात् जहां आत्महित, धर्मध्यान, दान, व्रतपालन, परदुःख निवारण आदिका भाव है वह पुण्यरूप राग है। ज्ञानीको यह भावना भानी चाहिये कि यह बंधका हेतु भावपुण्य और भावपाप दोनों ही प्रकारका भाव त्यागने योग्य है। एक शुद्ध भाव ही ग्रहण करने योग्य है जो बंधका नाशक व साक्षात् मोक्षका साधक है-जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्रने समयसार कलशमें कहा है—

सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना ।
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ॥
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्यहेतुर्भव-
न्नैः कर्मप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०-४ ॥

भावार्थ-मोक्षके अर्थी जीवको उचित है कि इस सर्व ही क्रियाकांडको छोड़ देवे ऐसा त्याग करनेपर फिर पुण्य तथा पापके त्यागकी बात क्या कहनी। जो कोई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रमई अपने आत्माके स्वभावमें रहता है वही मोक्षका कारण होता है। उसीके उपयोगमें आनन्दसे पूर्ण आत्मज्ञान कर्म बंध रहित भावमें बन्धा हुआ स्वयं दौड़ा करता है।

इस तरह शुभ तथा अशुभ परिणामको कहते हुए एक सूत्रसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे आधी गाथासे भावपुण्य तथा भावपापको तथा उसके आगेकी आधी गाथासे द्रव्य और द्रव्य पाप दोनोंको बताते हैं-

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥ १४० ॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भवति जीवस्य।
द्वयोः पुद्गलमात्रो भावः कर्मत्त्वं प्राप्तः ॥ १४० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवस्स) जीवका (सुहपरिणामो) शुभ भाव (पुण्णं) पुण्यभाव है। (असुहो) अशुभ भाव (पावंति) पाप भाव (हवदि) है। (दोण्हं) इन दोनों शुभ तथा अशुभ परिणामोंके निमित्तसे (पोग्गलमेत्तो) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिंडरूप (भावो) ज्ञानावरण आदि अवस्था (कम्मत्तणं) द्रव्यकर्मपनेको (पत्तो) प्राप्त होती है।

विशेषार्थ-यद्यपि यह शुभ या अशुभ परिणाम अशुभ निश्चयनयसे जीवके उपादान कारण या मूल कारणसे उत्पन्न हुए हैं तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे नवीन द्रव्य पुण्य और द्रव्य पापके कारण हैं। इसीलिये इन भावोंको भावपुण्य और

भाव पदार्थ कहा गया है। इसी तरह यद्यपि निश्चयनयसे ये द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गल पिंडसे पैदा हुए हैं तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीवके शुभ तथा अशुभ परिणामोंके निमित्तसे हुए हैं। इनमें साता वेदनीय आदि द्रव्य प्रकृतिरूप व असाता वेदनीय आदि द्रव्य पापरूप पुद्गल पिंड हैं। इनहीको द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप पदार्थ कहते हैं। यह सूत्रका भाव है।

भावार्थ—जीवके तीव्र कषाय रूप भावको भाव पाप तथा मन्दकषाय रूप भाव पुण्य कहते हैं इनके निमित्तसे अघातिया कर्मोंमें दो भेद होजाते हैं। जब पाप भाव होता है तब असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्रका बन्ध होता है। साता वेदनीय आदिका बंध नहीं होता है। जब पुण्य भाव होता है तब सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्रका बंध होता है, असातादिका नहीं होता। किन्तु घातिया कर्मोंका बन्ध हरएक कषाय सहित भावमें होगा—भाव पुण्यमें भी होगा, भाव पापमें भी होगा। यद्यपि इन चार घातिया कर्मोंको भी द्रव्य पापके भीतर ही गिनाया है क्योंकि ये आत्माके मुख्य गुणोंको विकारी कर देते हैं तथापि जब भाव पुण्य रूप मंदकषायके परिणाम होते हैं तब इन घातिया कर्मोंमें स्थिति और अनुभाग कम पड़ता है और जब भाव पापरूप तीव्र कषाय होता है तब इन घातियाकर्मोंमें भी स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ता है। इसीलिये सामान्य वचन ऐसा कह दिया जाता है कि शुभ भावसे पुण्य व अशुभ भावसे पाप बंध होता है।

कोई भी संसारी जीव पापोंसे लिप्त होना नहीं चाहता है यद्यपि पुण्यका बंध चाहता है परन्तु पुण्य तथा पापका बंधना या न बंधना किसी जीवकी कल्पनापर निर्भर नहीं है। यह एक स्वाभाविक क्रिया जगमें होती रहती है। कर्म योग्य वर्गणाएं तीन लोकमें भरी हैं, उनमें अशुद्ध जीवकी योगशक्ति द्वारा खिच जानेकी शक्ति है, और जीवकी योगशक्तिमें उनको खींच लेनेकी शक्ति है। हरसमय हरएक संसारी जीवकी योगशक्ति काम करती रहती है, सिवाय चौदहवें गुणस्थान वर्ती जीवके जहां योगोंका काम बंद हो जाता है। इसलिये हरएक जीवके कार्मण वर्गणाएं अवश्य स्वयं खिच आती हैं। योगशक्तिका परिणमन आत्माके प्रदेशोंके हलन चलनके आधीन है। आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना मन, वचन व कायके हलनचलनके आधीन है। हरसमय अनंत वर्गणाएं आती हैं और उसी समय जैसे तीव्र मंद कषाय भाव होता है उसीके अनुसार ज्ञानावरणादि क्षय होकर तीव्र मन्द अनुभागको लिये हुए किसी मर्यादित कालके लिये ठहर जाती हैं—यदि कषाय तीव्र होता है तो स्थिति आयु कर्म सिवाय सब कर्मोंकी अधिक पड़ती है। यदि कषाय मंद होता है तो स्थिति उन ही सात कर्मोंकी कम पड़ती है। यदि कषाय तीव्र होता है तो घातिया व असातादि पाप प्रकृतियोंमें अनुभाग शक्ति अधिक पड़ती है व पुण्यमें कम पड़ती है। यदि कषाय मंद होता है तो सातादि पुण्य प्रकृतियोंमें अनुभाग शक्ति अधिक पड़ती है व घातिया रूप पापकर्मोंमें अनुभाग शक्ति कम पड़ती है—आयु कर्ममें नर्क आयु पापरूप व शेष तीन आयु पुण्यरूप हैं। जब कषाय अधिक होती है तो नर्ककी स्थिति अधिक

व अन्य तीनकी कम पड़ती है। जब कषाय मंद होती है तब नर्ककी स्थिति कम व शेष तीन आयुकी स्थिति अधिक पड़ती है--अनुभाग भी इनमें मंदकषायसे अधिक पड़ेगा जब कि नर्क आयुमें कम पड़ेगा-जैसे पानीके बरसनेसे हमारे न चाहते हुए भी वृक्ष पानीको ले लेंगे और वह पानी नीमके वृक्षमें कटुक, ईखमें मीठा, नींबूमें खट्टा हो जायगा अथवा जैसे पानीके पास अग्नि हो हमारे न चाहनेपर भी पानी भाफ रूप होकर उड़ जायगा। चुम्बक पाषाण स्वभावसे ही लोहेको घसीट लेगा। सूर्यके उदयसे कमल स्वयं खिल जांयगे, अन्धकार स्वयं विलय जायगा। इत्यादि जगतमें अनेक पदार्थोंके संयोग व वियोगसे जैसे अनेक प्रकारके परिणमन होते हैं वैसे जीवोंके न चाहते हुए भी जिस तरह जीवोंके परिणाम होवेंगे उन ही भावोंका निमित्त पाकर स्वयं ही कर्म वर्गणाएं आकर पाप या पुण्य रूप बंध जायगी, यह वस्तुका स्वभाव है। हम यदि पाप बन्धसे बचना चाहते हैं तो हमें तीव्र कषाय रूप विषयादिके काम न करने चाहिये। और यदि हम पुण्यका लाभ करना चाहते हैं तो हमें श्री जिनेन्द्रपूजा, व्रत, दान, उपवास, परोपकारादि कार्य करने चाहिये तथा शुद्धोपयोगको मोक्षका साधक जानकर उसकी भावना भानी चाहिये तथा देवपूजा, स्वाध्याय व सामायिकमें इसी शुद्धोपयोगकी खोज करनी चाहिये। कर्मोंका बंध व उदय आदि होता रहता है उनके ऊपर हमारा स्वामित्व नहीं हो सक्ता है। हम इतना ही उपाय कर सक्ते हैं कि हम अपने परिणामोंकी सम्हाल करें।

क्योंकि बंधका होना हमारे परिणामोंके अनुकूल है--स्वामी

कुन्दकुन्दजीने समयसारमें कहा है-

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एव मादीणि।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २८७ ॥

भावार्थ-ये सर्व रागाद्वेषादि भाव जिनके नहीं होते हैं वे मुनि शुभ या अशुभ कर्मोंसे नहीं बंधते हैं।

और भी कहा है-

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मिसयं पोग्गलं दव्वं ॥ ९८ ॥

भावार्थ-जिस शुभ या अशुभ भावको यह आत्मा करता है उस ही भावका यह आत्मा करनेवाला होता है। इस ही भावका निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप बन्ध जाता है, ऐसा जानकर बंधसे मुक्त होनेके लिये स्वानुभवका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

इस तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप शुद्धात्मासे भिन्न जो त्यागने योग्य द्रव्य या भावरूप पुण्य तथा पाप हैं उनका व्याख्यान करते हुए एक सूत्रसे दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका-आगे यह सिद्ध करते हैं कि इन द्रव्यकर्मोंमें मूर्तीकपना है—

जम्हा कम्मस्सफलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥१४१॥

यस्मात्कर्मणः फलं विषयः स्पर्शैर्भुज्यते नियतं।
जीवेन सुखं दुःखं तस्मात्कर्माणि मूर्त्तानि ॥ १४१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जम्हा) क्योंकि (जीवेण) इस जीवके द्वारा (कम्मस्सफलं) कर्मोंका फल, (सुह दुक्खं) सुख और

दुःख ( विसयं ) जो पांच इंद्रियोंका विषय रूप है तो ( णियदं ) निश्चितरूपसे ( फासेहिं ) स्पर्शनादि इंद्रियोंके निमित्तसे ( भुंजदे ) भोगा जाता है (तम्हा) इसलिये ( कम्माणि ) द्रव्यकर्म (मुत्ताणि) मूर्तीक हैं।

विशेषार्थ—जो जीव विषयोंसे रहित परमात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले सुखमई अमृतके स्वादसे गिरा हुआ है, वह जीव उदयमें आकर प्राप्त हुए कर्मोंका फल भोगता है। वह कर्मफल मूर्तीक पंच इंद्रियोंके विषयरूप है तथा हर्ष विषादरूप सुखदुःखमई है। यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे अमूर्तीक है तथापि अशुद्ध निश्चयनयसे परमार्थरूप व अमूर्तीक परम आल्हादमई लक्षणधारी निश्चयसुखके विपरीत होनेके कारणसे वह विषयोंका सुख दुःख हर्ष विषादरूप मूर्तीक है क्योंकि निश्चयपूर्वक स्पर्शनादि पांच इंद्रियोंसे रहित अमूर्तीक शुद्ध आत्म तत्वसे विपरीत जो स्पर्शनादि मूर्तीक इंद्रियें हैं उनके द्वारा ही भोगा जाता है। अतएव कर्म जिनका ये सुख दुःख कार्य हैं वे भी मूर्तीक हैं क्योंकि कारणके सदृश ही कार्य होता है। मूर्तीक कार्यरूप अनुमानसे उनका कारण भी मूर्तीक जाना जाता है। पांचों इंद्रियोंके स्पर्शादि विषय मूर्तीक हैं। तथा वे मूर्तीक इंद्रियोंसे भोगे जाते हैं उनसे सुख दुःख होता है वह भी स्वयं मूर्तीक है। इस तरह कर्मको मूर्तीक सिद्ध किया गया, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाराजने कर्मबंधको मूर्तीक या पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल द्रव्यका कार्य सिद्ध किया है। कार्मण वर्गणा अनंत पुद्गल परमाणुओंका स्कंध है। तथापि सूक्ष्म

इतना है कि हम किसी भी इंद्रियसे उसे मालूम नहीं कर सक्के। जो वस्तु इंद्रियगोचर नहीं होती है उसका अनुमान उसके कार्यको देखकर किया जाता है क्योंकि साध्यका साधन यह भी है "कार्य्यात् कारणानुमानं" कि कार्यको देखकर कारणको जानलेना जिसके अनेक दृष्टांत प्रत्यक्षमें मिल सक्के हैं, उनमेंसे कुछ यहां दिये जाते हैं (१) आत्माको हम किसी भी इंद्रियसे नहीं देख सक्के हैं परन्तु उसके ज्ञानमई कार्यको देखकर ही यह निश्चय करते हैं कि इस शरीरमें जीव है या इस शरीरमें जीव नहीं है (२) मानवका मुख देखकर उसके परिणामोंका पता लगालेते हैं—उदास मुख शोकित या उदासीन मनका चिन्ह है, रक्तचक्षुसहित विकारी मुख बताता है कि यह प्राणी क्रोधी होरहा है और (३) स्त्रीका शरीर बता देता है कि यह गर्भस्था है। (४) हरएक मानवके अनंत माता पिता होचुके हैं यह ज्ञान भी अनुमानसे होता है, हमने अनंतको देखा नहीं है; (५) स्कंधोंको देखकर उनके कारण रूप परमाणुओंकी सत्ताका ज्ञान होता है; (६) समय, पल, घड़ी इस व्यवहार काल-रूप कार्यसे निश्चय कालाणु रूप द्रव्यकालका अनुमान होता है। (७) बालूपर घोड़ेके व सिंहके पगके चिन्ह देखकर यह निश्चय किया जाता है कि यहांसे घोड़ा या सिंह अवश्य गया है (८) नदीके मध्यमें उठी हुई भूमिको देखकर यह निश्चय करते हैं कि यहां बहती हुई नदीने मिट्टी जमा की है इत्यादि कार्योंसे कारणका ज्ञान निश्चय रूप होता है उसी तरह कर्मोंके फलको मूर्तीक देखकर कर्म मूर्तीक हैं ऐसा अनुमान करना योग्य है। घातिया कर्मोंका फल ज्ञान दर्शन व वीर्यको घात करना व मोह उत्पन्न करना है। जैसे

सूर्यपर बादल आजानेसे व एक मूर्तिके ऊपर परदा पड़ जानेसे हम सूर्य या मूर्तिको स्पष्ट नहीं देख सके हैं उसी तरह ज्ञानावरण व दर्शनावरणके उदयसे हम पूर्ण दर्शन ज्ञान नहीं कर सके हैं, जितना उनका क्षयोपशम या घटाव है उतना ही देख जान सके हैं। शरीरमें शक्ति होनेपर भी किसी चोरको या सिंहादि पशुओंको देखकर कायरता आजाती है, वीर्य निर्बल होजाता है उसी तरह अन्तराय कर्म आत्मबलको घटाता है। जैसे, भांग, चरस, शराब आदि नशोंके पीनेसे ज्ञान बिगड़ जाता है इसी तरह मोहके उदयसे ज्ञान विपरीत काम करता है। यदि मोहनीय कर्मका भेद क्रोधकषाय मूर्तीक न होता तो उसके उदयसे शरीरपर उसका फल न दिखता। मुखकी चेष्टा बिगड़जाना, लाल आंख होजाना, शरीरका कांपना ये सब क्रोधके उदयके चिह्न हैं। जैसे ज्वराविष्ट परमाणुओंका अनुमान मुखको देखकर वैद्य करलेता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी मुखकी चेटा देखकर यह अनुमान करलेते हैं कि इसकी आत्मामें क्रोध, भय, कामभाव या अभिमान आदि हैं—अघातिया कर्मोंके फल प्रत्यक्ष प्रगट हैं। शरीरकी रचना उच्च व नीच परमाणुओंसे होना नाम व गोत्रकर्मके कार्य हैं, साताकारी व असाताकारी सामग्री जैसे सुन्दर मकान, पर्याप्त धन, भोजन, वस्त्र, स्त्री, पुत्र, सेवक व दुःखदाई स्थान, अल्पभोजन, फटेवस्त्र, कलहकारिणी स्त्री, आज्ञा उल्लंघन करनेवाले पुत्र व सेवक आदि वेदनीयकर्मके कार्य हैं। आयुकर्मका कार्य किसी शरीरमें बना रहना है। इन सब पुण्य व पापरूप बाहरी कार्योंको सब जीवोंमें विचित्र प्रकारका देखकर यही अनुमान होता है कि ये पुण्य पाप कर्मके उदयके कार्य हैं क्योंकि ये कार्य

अमूर्तीक हैं इसलिये इनका कारण भी मूर्तीक है ऐसा अनुमान किया जाता है।

सातावेदनीयकर्मके उदयसे ही भोगने योग्य पांचों इंद्रियोंके इष्ट विषयके पदार्थ मिलते हैं। ये पदार्थ मूर्तीक हैं इससे इनका कारण कर्म मूर्तीक है। ये विषय मूर्तीक स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्णइंद्रियसे भोगे जाते हैं जो कि मूर्तीक हैं इसलिये इनका कारण कर्म मूर्तीक है। सुखके विदित होनेपर शरीरमें हर्षके अंकुर व मुखपर प्रसन्नता व दुःखके होनेपर शरीरमें निर्बलता व मुखपर उदासी प्रगट दिखती है क्योंकि ये कार्य मूर्तीक हैं इसलिये इनका कारण इष्ट व अनिष्ट विषयोंमें राग व द्वेष करना मोहनीयकर्मका असर है अतएव मोहनीयकर्म पौद्गलिक है। गाथाका यही आशय है। अमूर्तीकसे अमूर्तीक के अंतरंग विशेष गुणोंको बाधा नहीं पहुंच सक्ती है—ये मूर्तीक पौद्गलिक ही बाधाकारी हैं—अशुद्ध आत्मा अनादिकालसे अमूर्तीक होकर भी मूर्तीकके समान रूपी होरहा है क्योंकि कोई भी आत्माका प्रदेश कर्मबंध रहित शुद्ध नहीं है इसलिये इस मूर्तीक आत्मापर मूर्तीककर्मोंका असर पड़ता है। सिद्ध भगवान साक्षात् अमूर्तीक हैं, उनके पास अनंत कर्मवर्गणाएं उनसे नहीं बंधी हुई मौजूद हैं तथापि वे उनके अनंत ज्ञानादि स्वभावोंमें कुछ भी अंतर नहीं डाल सक्ती हैं। पुद्गलोंमें बड़ी शक्ति होती है—बिजली जातिके तैजस वर्गणाके पुद्गल जगतमें अनेक अद्भुत कार्य सम्पादन करते प्रगट हैं—बिना तारके सम्बन्धके शब्दका हजारों मील जाना बिजलीके ही द्वारा होता है। तैजस वर्गणासे अनंतगुणी शक्ति कार्मण वर्गणामें है इसीलिये कर्मके उदयमें बड़ी

भारी शक्ति है । सातावेदनीय पुण्यकर्मके आकर्षणसे बहुत दूर भी इष्ट वस्तु सामने आजाती है । एक मुनि विना किसीको कहे हुए अटपटी प्रतिज्ञा मनमें धारणकर भिक्षाके लिये जाते हैं उनके सातावेदनीय पुण्यकर्मके बलसे किसी भी गृहस्थके दिलमें उसीके अनुमान कार्य करनेकी भावना पैदा होजाती है अथवा किसी गृहस्थके तीव्र पुण्यके उदयसे जो व्यवस्था गृहस्थने की है तथा मुनिको दान करूंगा यह भाव किया है उसीके अनुकूल प्रतिज्ञा करनेका भाव मुनिमहाराजके मनमें पैदा होजाता है। जैसे—दंडकवनमें राम, लक्ष्मण, सीताने मिट्टीके वर्तनोंमें रसोई बनाई थी और दानके भाव किये थे, तदनुकूल दो मुनि जो उसी वनमें आए थे उन्होंने भिक्षार्थ आते हुए मनमें यह प्रतिज्ञा करी कि यदि कोई राजपुत्र मिट्टीके वर्तनोंमें रसोई बनावेगा तब ही आज हम भोजन करेंगे अन्यथा नहीं । मुनिमहाराज इसी प्रतिज्ञाको मनमें धारकर भिक्षार्थ वनमें विहार करते हैं और ठीक वैसा ही निमित्त बन जाता है। बस मुनिको भोजनका लाभ व दातारको पात्रदानका लाभ होजाता है । इस तरह विचारवान प्राणीको निश्चय हो जायगा कि कर्म मूर्तीक व पुद्गलकृत नहीं होते तो उनके मूर्तीक कार्य न होते इसलिये कर्मोंको मूर्तीक निश्चय करना योग्य है । वास्तवमें पुद्गलकर्म ही इस जीवका घात कररहा है व भवसागरमें भ्रमण करा रहा है । जैसा श्री अमृतचंद्र स्वामीने समयसारकलशामें कहा है—

> अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये ।
> वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ॥
> रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
> चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं च जीवः ॥ १२-२ ॥

इस जीवके अनादिकालसे होनेवाले अज्ञानमई नाचनें वर्णादिमई पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं अर्थात् उसीकी संगति या असरसे यह जीव भ्रमण कररहा है या रागी द्वेषी होरहा है व शरीर आदिकी प्राप्ति कररहा है क्योंकि निश्चयसे यह जीव तो रागद्वेषादि पुद्गलके विकारोंसे विरुद्ध है, वीतरागी है तथा शुद्ध है और चेतनामई अमूर्तीक धातुकी एक आकारके समान मूर्ति है। इस तरह नैयायिक मतको आश्रय करनेवाले शिष्यको समझानेके लिये नयविभागसे पुण्य व पाप दोनों प्रकारके द्रव्यकर्मोंको मूर्तीक सिद्ध करते हुए एक सूत्रसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि प्राचीन बंधे हुए मूर्तीक कर्मोंके साथ नए मूर्तीकर्मोंका तथा अमूर्तीक जीवके साथ मूर्तीक कर्मोंका बन्ध किस प्रकारसे है अथवा नैयायिक मतानुसारी शिष्यने यह पूर्व पक्ष किया कि अमूर्तीक जीव मूर्तीक कर्मोंको किस तरह बांधता है उसका समाधान आचार्य नयविभाग द्वारा करते हैं–

> मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
> जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ॥१४२॥
>
> मूर्तः स्पृशति मूर्तं मूर्तो मूर्तेन बंधमनुभवति।
> जीवो मूर्तिविरहितो गाहति तानि तैरवगाह्यते ॥१४२॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(मुत्तो) मूर्तीक कर्मपुद्गल (मुत्तं) मूर्तीक कर्मको (फासदि) स्पर्श करता है। (मुत्तो) मूर्तीक कर्मपुद्गल (मुत्तेण) पहलेके बंधे हुए मूर्तीक कर्मके साथ (बंधम्) बंधको (अणुहवदि) प्राप्त होजाता है। (मुत्तिविरहिदो) अमूर्तीक जीव (ते) उनको (गाहदि) अवकाश देता है व (तेहिं) उन कर्मोंसे (उग्गहदि) अवकाशरूप होजाता है।

विशेषार्थ–विकाररहित शुद्ध आत्माके अनुभवको न पाकर इस जीवने जो अनादि संतानद्वारा कर्म बांध रक्खे हैं जो मूर्तीक कर्म जीवकी सत्तामें तिष्ट रहे हैं, ये ही कर्म स्वयं स्पर्शादिवान होनेके कारण मूर्तीक होते हुए नवीन आए हुए मूर्तीक स्पर्शादिवान कर्मोंको संयोगरूप स्पर्श करते हैं इतना ही नहीं वे ही मूर्तीक कर्म अमूर्तीक व अतीन्द्रिय निर्मल आत्मानुभवसे विपरीत जीवके मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणामका निमित्त पाकर आए हुए नवीन मूर्तीक कर्मोंके साथ अपने ही स्निग्ध रूक्ष परिणतिके उपादान कारणसे एकमेक होनेरूप बन्धको प्राप्त होजाते हैं। इस तरह मूर्तीक कर्मोंके परस्पर बंधकी विधि बताई। अब इस मूर्तीक जीवका मूर्तीक कर्मोंके साथ बन्ध क्या है उसे कहते हैं। शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव अमूर्तीक है तथापि व्यवहारनयसे अनादि कर्मबंधकी संतान चली आनेसे मूर्तीक होरहा है–अमूर्तीक और अतीन्द्रिय विकाररहित व सदा आनंदमई एक लक्षणधारी सुखरसके स्वादसे विपरीत जो मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणाम हैं इन भावोंसे परिणमन करता हुआ यही कर्मबन्ध सहित मूर्तीक जीव उन कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलोंको अपने प्रदेशोंमें अवकाश देता है। इस हीका अर्थ यह है कि उनको बांधता है। अर्थात् यह जीव ही अपनी निर्मल आत्मानुभूतिसे विपरीत रागादि परिणाम द्वारा कर्मभावमें परिणत हुए कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकी वर्गणाओंसे अवगाह पाता है अर्थात उनसे बंधजाता है। यहां यह भाव है कि निश्चयसे अमूर्तीक है तथापि व्यवहारसे मूर्तीक है। इसहीसे जीवमें कर्मबंध संभव है। ऐसा ही कहा है–

"वंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्य णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स ॥"

भावार्थ-कर्मवन्धकी अपेक्षा जीवके साथ पुद्गलका एकमेक सम्बन्ध है, परन्तु लक्षणकी अपेक्षा दोनोंमें भिन्न२पना है इस-लिये एकांतसे जीवके अमूर्तीक भाव नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने वन्धतत्वका स्पष्ट वर्णन कर दिया है। यह दिखलाया है कि वास्तवमें वंध पुद्गलद्रव्यका पुद्-लद्रव्यके साथ होता है। जैसे छूटे हुए पुद्गल अपने स्पर्श, रूक्ष व चिकने गुणके कारण परस्पर बन्धको प्राप्त होजाते हैं उसी तरह जीवके साथ पहलेके वंधे हुए कर्म पुद्गलोंके साथ नए आए हुए कर्मपुद्गल वन्ध जाते हैं। जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें इन कर्मपुद्-लोंका अवगाहन होता है अर्थात् एक एक आत्माके प्रदेशमें अनं-तकर्मपुद्गल तिष्ठ जाते हैं। अत्माके प्रदेशोंका और कर्मपुद्गलोंका एक क्षेत्रावगाहरूप ही वंध है। ऐसा वन्ध नहीं है जैसा पुद्गलका पुद्गलके साथ स्निग्ध रुक्ष गुणके कारण स्कंध बनने रूप वंध होता है-कर्म पुद्गलोंकी अवगाहना जीवके साथ इस विलक्षण प्रकारकी अनादिकालसे होरही है कि एक पिंडरूप कार्मण शरीर ही होरहा है। वह शरीर आत्माके प्रदेशोंको कभी छोड़ता नहीं-यह शरीर और तैजस शरीर दोनों अति सूक्ष्म हैं, आत्माके साथ सदा रहते हैं। जिस स्थूल शरीरमें आत्मा जाता है उस शरीरके प्रमाण सिकुड़ता तथा फैलता है तव ये दोनों शरीर भी सिकुड़ते तथा फैलते हैं। जैसे अकृत्रिम मंदिर, पर्वत आदिमें स्कंध रचना बनी रहती है तो भी उस स्कंधसे पुराने पुद्गल झड़ते व नए मिलते रहते हैं उस ही

तरह इन तैजस व कार्मण शरीरोंकी रचना बनी रहती है-उनमेंसे पुराने पुद्गल झड़ते व नए मिलते रहते हैं। पुराने कर्म अपनी स्थिति पूरी कर करके झड़ते जाते नए कर्म बंधते जाते हैं। इस तरह कर्मोंका सम्बन्ध जीवके प्रदेशोंके साथ अनादि कालसे प्रवाहरूप चला आ रहा है और यह सम्बन्ध उसी समय छूटेगा जब इस जीवकी मुक्ति होगी। इन दोनों तैजस कार्मण शरीरोंसे छूटना ही मुक्ति है। यदि अनादि कालसे संसारी जीवके साथ कार्मण शरीर न होता तो कभी भी नई कार्मण वर्गणाओंका बंध न होता।

सिद्धोंके कार्मण शरीर न रहनेसे कार्मण वर्गणाओंके सिद्ध-क्षेत्रमें होते हुए भी कभी भी कर्मोंका बंध नहीं होता।

जीवके सर्व प्रदेश कार्मण वर्गणाओंसे ठसाठस भरे हुए हैं इसीलिये जीवको व्यवहारनयसे मूर्तीक कहा है और यह बताया है कि मूर्तीक जीवका ही बंध मूर्तीक पुद्गलोंसे होना संभव है। इस बंधके स्वरूपको निश्चय करके ज्ञानी जीवको उचित है कि अपने आत्माके निश्चय स्वभावकी ओर ध्यान देवे तब वह यह देखेगा कि उसके आत्माका स्वभाव परम शुद्ध ज्ञानानंदमई सर्व कर्मबंधादि उपाधियोंसे रहित अविकार है। ज्ञानी जीवको उचित है कि बंधके जालसे मुक्त होनेके लिये वह अपने स्वभावका स्वाद लेवे और उसीमें मग्न हो जावे। जैसे तीन परदोंके भीतर बैठा राजा तीन परदोंसे भिन्न है वैसे औदारिक, तैजस, कार्मण इन तीन शरीरोंके भीतर बैठा आत्माराम इन शरीरोंसे भिन्न है। वास्तवमें अपनेको देह रहित अबंध अनुभव करना ही बंध रहित होनेका उपाय है।

ज्ञानीके विचारनेका प्रकार श्रीअमृतचन्द्रजीने समयसार-कलशामें कहा है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥१३॥
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥१४-८॥

भावार्थ—आत्माके भीतर रागादि रूप नैमित्तिक भाव अपने आप ही नहीं होते हैं। जैसे सूर्यकांति मणि स्वयं विना सूर्यकी किरणके संबंधके अग्निरूप नहीं होती अथवा निर्मल स्फटिक विना लाल, हरे, पीले, काले डांकके सम्बन्धके स्वयं लाल, हरी, पीली व काली नहीं होती। उसी तरह आत्मा भी स्वयं रागी द्वेषी नहीं होता, उसके रागादि भावोंके होनेमें मोहनीय कर्मकी संगति निमित्त है। ऐसी वस्तुका स्वभाव जब हृदयमें प्रगट होता है तब ज्ञानी इस वस्तुके स्वभावको जानता हुआ रागादि भाव मेरे आत्माके स्वभाव हैं ऐसा कभी नहीं मानता हुआ रागादि भावोंका कर्ता नहीं होता है अर्थात् वह अपना स्वभाव यही समझता है कि वह शुद्ध चैतन्यमई एक वीतराग भावका कर्ता है। यही रुचि व यही ज्ञान व यही मनन भव भ्रमणके कारणका मूलसे छेदक है।

इस तरह चौथा स्थल पूर्ण हुआ—इस प्रकार नव पदार्थको बतानेवाले दूसरे महा अधिकारमें पुण्य व पापके व्याख्यानकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा पांचमा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

पीठिका—आगे यह आत्मा निश्चयसे परमात्मा स्वरूप है। यह भाव कर्म, द्रव्य कर्म, व नोकर्म तथा मतिज्ञानादि विभावगुण

व नर नारक आदि विभाव पर्याय इन सबसे शून्य है तथा शुद्ध आत्माके भलेप्रकार श्रद्धान, व भलेप्रकार ज्ञान व भलेप्रकार आचरण रूप अभेद रत्नत्रयमई विकल्प रहित समाधि भावसे उत्पन्न होनेवाले समता रसके भावसे पूर्ण कलशकी तरह भरा हुआ है—इस आत्मासे भिन्न जो शुभ व अशुभ आस्रवका अधिकार है उसमें छः गाथाएं हैं। पहले पुण्याश्रवके कहनेकी मुख्यतासे "रागो जस्स पसत्थो" इत्यादि पाठक्रमसे चार गाथाएं हैं। फिर पापास्रवको कहते हुए—"चरिया पमाद बहुला" इत्यादि गाथाएं दो हैं। इस तरह पुण्य व पापके आस्रवके व्याख्यानमें समुदायपातनिका है।

उत्थानिका—आगे आस्रवरहित शुद्ध आत्मपदार्थसे प्रतिकूल जो शुभ आस्रव है उसका वर्णन करते हैं—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१४३॥

रागो यस्य प्रशस्तोऽनुकम्पा संश्रितश्च परिणामः ।
चित्ते नास्ति कालुष्यं पुण्यं जीवस्यास्रवति ॥ १४३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जस्स) जिस जीवके (पसत्थो) प्रशस्त या शुभ ( रागो ) राग है ( य ) और ( अणुकंपासंसिदो ) दयासे भीगा हुआ ( परिणामो ) भाव है, तथा ( चित्ते ) चित्तमें ( कलुस्सं ) कालुषपना या मैलापना ( णत्थि ) नहीं है ( जीवस्स ) उस जीवके ( पुण्णं ) पुण्य कर्म ( आसवदि ) आता है।

विशेषार्थ—वीतराग परमात्म द्रव्यसे विलक्षण अरहंत सिद्ध आदि पांच परमेष्टियोंमें पूर्ण गुणानुराग सो प्रशस्त धर्मानुराग है। दया सहित मन, वचन, कायका व्यापार सो अनुकंपाके आश्रय

परिणमन है, क्रोधादि कषायको कलुषता कहते हैं। जिस जीवके भावोंमें धर्म-प्रेम है व दया है तथा कषायकी तीव्रताका मेल नहीं है उसके शुभ परिणामोंसे उस जीवके द्रव्य पुण्य कर्मका आस्रव होता है। यहां सूत्रमें भावपुण्यास्रवका स्वरूप कहा है।

भावार्थ-यहां जिन भावोंसे सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंके बन्धमें अनुभाग शक्ति अधिक पड़े उन भावोंका नमूना बताया है। यह सिद्धांत है कि जितनी कषाय मन्द होगी उतना ही पुण्य प्रकृतियोंके भीतर रस अधिक पड़ेगा। जैसे शीतल स्थान, जल सरोवर, उपवन आदिका आश्रय लेनेसे आताप घट जाता व शीतलता बढ़ जाती है उस ही तरह जो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा देव हैं व निर्ग्रन्थ परिग्रह त्यागी गुरु हैं, व वीतराग विज्ञानमई जिन धर्म हैं इनमें प्रेम करनेसे कषाय मंद पड़ जाते हैं, परिणामोंमें शांति बढ़ जाती हैं जिसका फल यह होता है कि बहुत अधिक रस पुण्य प्रकृतियोंमें पड़ जाता है-कष्टप्राप्त जीवोंपर दया भाव भी उसी समय आता है जब भाव मानादि कषायोंके घटनेसे कोमल होते हैं इसलिये अनुकम्पाका भाव भी पुण्य बंधका कारण है तथा जब चित्तमें हिंसा करने, झूंठ बोलकर ठगने, चोरी करने, कुशील सेवने, परिग्रहमें न्याय अन्यायका विचार छोड़ उसे वृद्धि करनेके भाव होते हैं तब मन कषायकी कालिमासे कलुष होता है उस समय कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओंमेंसे कोई होती है। जहां ऐसे तीव्र कषायका उदय न होकर मंद कषाय हो अर्थात् पीत, पद्म, शुक्ल लेश्याओंमेंसे किसी एकके परिणाम हों उस समय भावोंमें संक्लेशता न होकर प्रसन्नता या विशुद्धता होती है-ये ही भाव पुण्यआस्रवके

कारण हैं। भावोंके समयमें ही चहुंओर भरी हुई कर्मवर्गणाएं बंधके सन्मुख हो आत्माके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाहरूप बंधको प्राप्त हो जाती हैं—आस्रव और बंध दोनों ही कार्य एक समयमें होते हैं। बंधके सन्मुख होने मात्र कार्यके अंशको आस्रव तथा बंधरूप होने-योग्य कार्यको बंध कहते हैं। यही आस्रव और बंधमें अन्तर है। पुण्यकर्मका आस्रव हमारे न चाहनेपर भी आता है। सम्यग्दृष्टी जीव पुण्यकी वांछा भी नहीं करता है। वह अपने भावोंमें स्वात्मा-नुभवको जागृत करनेके लिये श्री वीतराग देव, शास्त्र व गुरुमें भक्ति रूपसे वर्तन करता है व अन्य धार्मिक व परोपकारके कार्य करता है—वह बदलेमें कुछ भी फल नहीं चाहता है, केवल अपने परिणामोंके उत्साहसे सेवा धर्म बजाता है। तौभी जैन सिद्धांतने नीचे लिखे सूत्रमें यह बता दिया है कि इतने प्रकारके भावोंके होनेपर साता वेदनीय पुण्य कर्मका आस्रव होगा—

"भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः-
क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥" (उमा० त० १२-६)

भावार्थ—समस्त प्राणियोंपर दया, व्रत धारियोंपर विशेष दया, चार प्रकार दान, मुनि व गृहस्थका धर्मानुराग सहित महाव्रत या अणुव्रत, अकाम निर्जरा अर्थात् दुःखको धैर्यके साथ भोग लेना, आत्मज्ञान रहित तप तथा ध्यान या समाधि, क्रोधका त्याग क्षमा व लोभका त्याग शौच तथा इति शब्दसे अर्हत् पूजा करना, बाल व वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्त्य करना आदि सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं यही कारण है जो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती सातवेंसे १३वें गुणस्थान तकके संयमियोंके भी जहां वीतरागता ही परिणामोंमें

रहती है, सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म राग अंश है सो भी ध्यानीकी बुद्धिगोचर नहीं है वहां तो कुछ स्थितिको लिये हुए बन्ध पड़ता है--किन्तु ग्यारहवेंसे तेरहवें तक कषायका उदय रंचमात्र भी नहीं है, मात्र योगोंका कार्य है। परन्तु ये योग उत्तमक्षमा, उत्तमशौच व योगाभ्यासमें इतने तन्मय होते हैं कि जिनसे मात्र सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव होता है, और किसी कर्मका आस्रव नहीं होता। ये कर्म एक समयकी स्थितिको लिये हुए आते हैं। इस आगमनको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। ये कर्म उसी समय अपना फल देकर चले जाते हैं। इनका फल साताकारी पदार्थोंका सम्बन्ध मिलाना है। अरहंत केवलीके सब साताकारी सम्बन्ध हरसमय इस सातावेदनीयके उदयसे होते हैं।

वस्तुस्वभावसे ही भावोंके अनुकूल कर्मोंका बंध हरसमय होता है। उपशांतमोहादि सयोग केवलीतक साता वेदनीयका एक समयकी स्थितिको लिए हुए बंध होता है ऐसा श्रीगोम्मटसार कर्मकांडका बचन है--"उपसंताखीणमोहे जोगिह्मि य समयियट्ठिदी सादं" ॥१२०

ज्ञानी जीवको पुण्यकी भी इच्छा न करके मात्र आत्मरसपानके उद्योगमें दत्तचित्त रहना योग्य है। जैसा स्वामी अमितगतिने सामायिक पाठमें कहा है—

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा,
यस्य स्वान्ते स्फुरति न मुनेर्गुणतो लोकयात्राम्।
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारो,
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचयं ब्रह्मरूपं प्रयाति ॥२०॥

भावार्थ-जिस मुनिके चित्तमें मोक्षमार्गमें बाधक नानाप्रकारके आरंभ सहित लोक व्यवहार नहीं प्रगट होते हैं वही आत्मतत्वके विचारमें अपनेको अत्यन्त स्थिर करके व सर्व पापसमूहको नाश करके मोक्षमहलमें पहुंच जाता है—

इस तरह शुभ आस्रवको कहते हुए गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे प्रशस्त रागका स्वरूप कहते हैं—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥ १४८ ॥
अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे या च खलु चेष्टा।
अनुगमनमपि गुरूणां प्रशस्तराग इति ब्रुवन्ति ॥ १४८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( अरहंतसिद्धसाहुसु ) अरहंत, सिद्ध, व साधुओंमें (भत्ती) भक्ति (य) और (धम्मम्मि) शुभ रागरूप चरित्रमें (जा खलु चेट्ठा) जो निश्चय करके उद्योग करना व (गुरूणं पि अणुगमणं) गुरुओंके अनुकूल चलना (पसत्थरागो त्ति) यह प्रशस्तराग है ऐसा ( वुच्चंति ) आचार्य कहते हैं।

विशेषार्थ-दोषरहित परमात्माके ध्यानके विरोधी जो आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान दो खोटे ध्यान हैं उनसे ज्ञानावरणादि आठ मूल व उनके भेदरूप उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है। इन ही कर्मप्रकृतियोंको रागादि विकल्पोंसे रहित धर्मध्यान और शुक्लध्यानोंकि बलसे नाश करके जो क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित हो केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयके धारी हैं वे अर्हंत कहे जाते हैं। जिन्होंने लौकिक अंजनसिद्धि आदिसे विलक्षण ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंका नाश करके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंको प्रगट करके लोकके अग्रभागमें निवास प्राप्त करलिया है वे सिद्ध हैं। विशुद्ध

ज्ञानदर्शन स्वभावमई आत्मतत्वमें जो रुचि वह निश्चय सम्यक्त है, उसहीका ज्ञान सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है व उसहीमें निश्चल होकर अनुभव करना सो निश्चय सम्यग्चारित्र है। परद्रव्यकी इच्छाको त्याग करके उस ही आत्मद्रव्यमें विशेषपने तपना सो निश्चय तप है तथा अपने वीर्यको न छिपाकर साधन करना सो निश्चय वीर्य है। इस निश्चय पंच प्रकार आचारको तथा आचार आदि शास्त्रमें कथित क्रमसे इस ही निश्चय पंचाचारके साधनेवाले व्यवहार पंचाचारको इस तरह दोनोंको जो स्वयं आचरण करते हैं और दूसरोंसे आचरण कराते हैं वे आचार्य हैं। जो पांच अस्तिकायमें शुद्ध जीवास्तिकायको, छःद्रव्योंमें शुद्ध जीवद्रव्यको, सात तत्वोंमें शुद्ध जीवतत्वको, नव पदार्थोंमें शुद्ध जीव पदार्थको निश्चयनयसे ग्रहण करने योग्य कहते हैं, तैसे ही निश्चय व्यवहाररूप रत्नत्रय लक्षणमई मोक्षमार्गको जो बताते हैं व स्वयं जिसकी भावना करते हैं वे उपाध्याय हैं। जो निश्चयरूप चार तरहकी आरधानासे शुद्ध आत्मस्वरूपका साधन करते हैं वे साधु हैं। इस तरह पहले कहे हुए लक्षणोंके धारी जिनेन्द्रोंमें, सिद्धोंमें व साधु शब्दसे कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें जो बाहर और भीतरसे भक्ति करना सो प्रशस्त राग कहाजाता है। इस शुभ रागको अज्ञानी जीव भोगोंकी इच्छारूप निदानभावसे करता है परंतु ज्ञानी निर्विकल्प समाधिको न पाकर विषय या कषायरूप अशुभ रागोंके नाश करनेके लिये करता है, यह भावार्थ है।

भावार्थ-यहां प्रशस्त रागका स्वरूप बताया गया है। मोक्षप्राप्त व मोक्षमार्गी आत्माओंमें प्रीति करना व उनकी सेवा करनी

व उनके गुणोंका स्मरण करना इसे ही पंच परमेष्टीकी भक्ति कहते हैं—भक्तगण आत्माके शुद्ध स्वभावको ही ग्रहण योग्य मानकरके जहां २ शुद्ध स्वभावकी प्रगटता है उनकी मान्यता इसीलिये करते हैं कि अपनेमें शुद्धस्वभावकी प्रगटताकी योग्यता आजावे। श्री अरहंतकी अष्टद्रव्यसे पूजा करना बहुत अधिक शुभ रागको चढ़ानेवाली है, मुनीश्वरोंको दान देना बहुत अधिक धार्मिक अनुरागका कारण है। साधुओंकी वैयावृत्य करना—उनको संयम साधनमें अधिक उद्योगवान बनाना यह सब प्रशस्त राग है। इसके सिवाय मुनि या श्रावकके व्यवहारचारित्रमें उद्यम करना; सदा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व ममता रहित भाव रखना, व्रतोंकी रक्षार्थ पच्चीस भावनाओंका विचार रखना, गुरुकी आज्ञानुसार वर्तना यह सब शुभराग है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव अनेक प्रकार शुभ कार्योंको विषयभोगके पानेकी लालसासे निदान भावके साथ करता है जिससे पुण्य तो बांधता है परन्तु वह पुण्य अतिशय रहित होता है, परम्पराय पापबन्धका कारण होता है, परन्तु सम्यग्दृष्टी धर्मानुरागसे व मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे करता है जिससे अतिशयकारी महान पुण्यका बंध करता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी शुभरागको भी त्यागने योग्य जानता है, मात्र अशुभ रागसे बचनेके लिये शुभ राग करता है। ज्ञानीका मुख्य उद्देश्य शुद्धोपयोगका लाभ करना है। ज्ञानी पुण्य और पाप दोनोंको बंधका कारण जानता है। जैसा स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यजीने समयसारमें कहा है—

सो वण्णियम्हि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥ १५२॥

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता॥ १६१॥

भावार्थ—जैसे लोहेकी वेड़ी पुरुषको बांधती है वैसे ही सुवर्णकी वेड़ी बांधती है। इसी तरह शुभ या अशुभ किया हुआ कर्म जीवको पुण्य तथा पापकर्मसे बांधता है। जो निश्चय तत्वज्ञानसे बाहर हैं और मोक्षके वास्तविक कारण शुद्धोपयोगको नहीं जानते हैं वे अज्ञानसे पुण्यको ही मोक्षका कारण जान पुण्यकी इच्छा करते हैं जो वास्तवमें संसारके भ्रमणका कारण है।

उत्थानिका—आगे अनुकम्पाका स्वरूप कहते हैं—

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥१४५॥

तृषितं बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यस्तु दुःखितमनाः।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवत्यनुकम्पा॥ १४५॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जो दु) जो कोई (तिसिदं) प्यासे, (बुभुक्खिदं) भूखे (वा) तथा (दुहिदं) दुःखीको (दट्ठूण) देखकर (दुहिदमणो) अपने मनमें दुःखी होता हुआ (तं) उसको (किवया) दयाभावसे (पडिवज्जदि) स्वीकार करता है अर्थात् उसका दुःख दूर करता है (तस्स) उस दयावानके (एसा) यह (अणुकंपा) दया (होदि) होती है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव किसीको तीव्र प्यास, भूख व तीव्र रोगसे पीड़ित देखकर किस तरह इसका यत्न करूं ऐसा सोचकर व्याकुल होता हुआ दयाभाव करता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी अपने आत्माकी भावनाको न प्राप्त करता हुआ संक्लेश परिणाम न करके

उसका यथासंभव उपाय करता है-उसे दुःखी देखकर विशेष संवेग तथा वैराग्यकी भावना भाता है, यह सूत्रका भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने शुभ भावरूप दयाका स्वभाव बहुत अच्छा बता दिया है-उसहीके चित्तमें दयाभाव समझना चाहिये जिसका चित्त दूसरेको भूखा, प्यासा, रोगी, शोकी व दुःखी देखकर स्वयं ऐसा भाव करने लग जावे कि मानो मैं ही भूखा, प्यासा, रोगी या दुःखी हूं और तब जैसे अपने भूख, प्यास, रोग आदि होनेपर अपना चित्त घबड़ाता है वैसे ही दूसरेका घबड़ाता है ऐसा समझकर जैसे अपने दुःखोंके दूर करनेका उद्यम करता है वैसे दूसरोंके कष्टोंके निवारणमें प्रयत्नवान होजावे। अपनी शक्ति हो तो स्वयं अन्न, पान औषधि आदिका उपाय करदे, न शक्ति हो तो किसीसे करादे। यदि करा भी न सके तो मनसे भावना भावे कि इस दुःखीका दुःख कैसे दूर हो तथा जहां कहीं अवसर मिले उसके दुःख मिटानेका प्रयत्न करे। यह दयाभाव वास्तवमें परका उपकार करनेवाला है-दयाभावकी शिक्षा यही सिखाती है कि अपने समान दूसरोंके दुःखोंको समझकर जैसे अपने दुःख मिटाते हो वैसे दूसरोंके मिटाओ। एक गृहस्थी स्वयं अन्न खाता है, पानी पीता है, औषधि लेता है, वस्त्र ओढ़ता है। उसी तरह दयावान; भूखे प्यासे मानव व पशु, पक्षी आदि सबको अन्न पान देता है, रोगीको औषधि देता है-अज्ञानीके लिये विद्या पढ़नेका प्रबन्ध कर देता है। दयाभावसे दयावान किसीको दुःखी नहीं देख सकेगा। उसके घरमें जो पशु, पक्षी आवेंगे उनको भूखा प्यासा जानकर वह दयावान उनके खानेके लिये योग्य अन्न व पानीका प्रबन्ध कर

देगा । दयाभावसे कषाय मंद होजाती है और मंद कषायी साता वेदनीय आदि पुण्यकर्मोंको बांध लेता है । जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं वे मात्र अपने कोमल परिणामोंकी उलझन मिटानेके लिये तथा मात्र अपना कर्तव्य समझकर दूसरोंके दुःख निवारण करेंगे । वे बदलेमें न कुछ पुण्यबंध चाहेंगे न उससे कुछ प्रत्युपकारकी वांछा करेंगे । तथापि वस्तुका स्वभाव है कि जहां शुभराग हो वहां पुण्य बंध हो जावे इस नियमित वस्तुस्थितिके अनुसार वे पुण्यकर्म जैसा योग्य है वैसा बांध लेवेंगे, किन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टी अपनी बड़ाई व लाभ व बदला व पुण्यकर्मका बंध चाहता हुआ ज्ञानीकी अपेक्षा तीव्र कषायके कारण अल्प पुण्यकर्मका बंध करेगा। प्रयोजन आचार्यका यह है कि जो हितकांक्षी आत्माएं हैं उनको मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगमें रहनेका यत्न करना चाहिये, परन्तु शुद्धोपयोगमें पहुंचना व अंतर्मुहूर्त भी स्थिर रहना बड़े२ वीर पुरुषोंका काम है अतएव जबतक उपयोग शुद्धोपयोगमें लगे तबतक उस हीकी तरफ उद्युक्त रहकर स्वात्मानुभव करना योग्य है, परन्तु जब उपयोग उनमें न लगे तब शुभोपयोगमें लगानेके लिये अनुकंपा भावका व दयानुकूल कर्तव्यका पालन भी करना योग्य है । जैसा श्री कुलभद्र आचार्यने कहा है—

दयाङ्गना सदा सेव्या सर्वकालफलप्रदा ।
सेवितासौ करोत्याशु मानसं करुणात्मकम् ॥ २५१ ॥

अर्थात्—सर्वकाल शुभ फल देनेवाली दयारूपी स्त्रीका सेवन करना योग्य है जिसके सेवन करनेसे यह मन शीघ्र ही करुणारूप होजाता है ।

श्री पद्मनंदि मुनि लिखते हैं—

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो।
धर्मः स किं न करुणांगिषु यत्र मुख्या॥
तत्किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः।
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम्॥ १८॥

भावार्थ—जिसमें विकार भाव हो वह देह कैसे होसक्ता है॥ जहां दयाकी मुख्यता नहीं वह धर्म क्या होसक्ता है, जिसमें आत्मज्ञान नहीं वह तपस्वी गुरु कैसे होसक्ता है, वह धन किस कामका जो पात्र दानमें नहीं काम आता है।

उत्थानिका—आगे चित्तकी कलुषताका स्वरूप कहते हैं—

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसोत्ति य तं बुधा वेंति॥१४६॥

क्रोधो वा यदा मानो माया लोभो वा चित्तमासाद्य।
जीवस्य करोति क्षोभं कालुष्यमिति च तं बुधा वदन्ति॥१४६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदा) जिस समय (कोधो) क्रोध (व) तथा (माणो) मान, (माया) माया (व) तथा (लोभो) लोभ (चित्तं) चित्तमें या उपयोगमें (आसेज्ज) प्राप्त होकर (जीवस्स) आत्माके भीतर (खोहं) क्षोभ या आकुलता या घवड़ाहट (कुणदि) पैदा कर देता है। (बुधा) ज्ञानीजन) (तं) उस क्षोभको (कलुसोत्तिय) कलुषता या संक्लेशपना ऐसा (वेंति) कहते हैं।

विशेषार्थ—उत्तम क्षमामें परिणतरूप शुद्धात्मतत्वके अनुभवमें प्रतिकूल क्रोध है। अहंकार रहित शुद्धात्माकी प्राप्तिसे विरुद्ध मान है। प्रपंचरहित आत्माके लाभसे विपरीत माया है। शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न होनेवाली तृप्तिका रोकनेवाला लोभ है।

क्षोभरहित शुद्ध आत्माके अनुभवसे विपरीत आकुलित भावको चित्तक्षोभ कहते हैं। इन क्रोधादि कषायोंकी तीव्रतासे जो चित्तमें क्षोभ होता है उसको कलुषता कहते हैं। इस कलुषतासे विपरीत भावको अकलुषता या मंदकषायरूप शुभ राग कहते हैं यही भाव पुण्यकर्मके आस्रवका कारण है–यह भाव कभी अज्ञानी मिथ्यादृष्टीको भी अनंतानुबन्धी कषायके मंद उदय होनेपर होजाता है तथा ज्ञानीके भी यह शुभ भाव तब होता है जब उसको विकार रहित स्वानुभवका लाभ नहीं होता व ज्ञानी खोटे ध्यानसे बचनेके लिये इस चित्तकी प्रसन्नतारूप भावको संतोष, दयाभाव, क्षमा आदिके रूपसे करता है।

भावार्थ इस गाथामें भी पुण्यके कारणरूप भावको बताया है। १४३वीं गाथामें कह चुके हैं कि चित्तकी कलुषताका न होना पुण्यबन्धका कारण है। उस चित्तकी कलुषताको यहां दर्शाया है–यह बात देखनेमें आती है कि जब कभी भावोंमें तीव्र क्रोध आजाता है तब बहुत ही मैला भाव होजाता है–योग्य विवेक जाता रहता है, शरीर कांप जाता है, आंख लाल होजाती है। इसी तरह जब तीव्र मान आता है तब अहंकारसे भाव ऐसा कठोर आजाता है कि दुःखी जीवोंपर दया ही नहीं आती है। अपनेसे छोटोंको तुच्छ दृष्टिसे देखता है–किंचित् अपने अपमानको नहीं सह सक्ता है, इसी तरह जब अन्याय कार्य करनेके लिये कपटका प्रपंच आजाता है तब भाव बड़ा मैला होजाता है–तीव्र लोभ कषायके उदयसे इस प्राणीका विवेक जाता रहता है तब दूसरोंको पीड़ा देकर भी धन संग्रह करने लगता है–भक्ष्य अभक्ष्यका, कर्तव्य अकर्तव्यका

विचार छोड़ देता है। इत्यादि चित्तकी कलुपता जहां न होकर शांत भाव है, विनय है, सरलता है, सत्य भाषण है, नीतिसे द्रव्य कमाना है, अभक्ष्यको त्यागकर भक्ष्यका ग्रहण करना है, परोपकारका भाव है ये सब मंदकषायके कार्य हैं। इन कार्योंको करते हुए चित्तकी प्रसन्नता होती है। बस यही चित्तप्रसाद पुण्य आस्रव करता है।

तत्वज्ञानी जीवका लक्ष्य शुद्ध आत्माके अनुभवपर ही होता है। जब उपयोग उसमें ठहरनेको असमर्थ होजाता है तब अशुभ उपयोगसे बचनेके लिये वह नानाप्रकार मंद कषायरूप शुभ कार्योंको करता है जिससे स्वयं पुण्यकर्मका बंध होजाता है-ज्ञानी पुण्यकर्मकी भी चाहना नहीं करता है।

श्री समयसारजीमें स्वामी कहते हैं—

**णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ वहुपयाराइ।**
**जाणदि पुण कम्मफलं वंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३४० ॥**

भावार्थ—ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव नाना प्रकारके पुण्य पाप कर्मोंका न कर्ता होता है न भोक्ता बनता है, वह कर्मोंके फलको, बंधको, पुण्य तथा पापको मात्र जानता ही है-तत्त्वज्ञानी अपने परिणामोंकी सम्हालके लिये व पुनः शुद्ध भावमें जमनेके लिये ही शुभ भावोंके भीतर परिणमन करता है-पुण्यके लोभसे शुभभाव नहीं करता है।

इस तरह चार गाथाओंसे पुण्यास्रवके कारणोंको बताया।

उत्थानिका—अब दो गाथाओंसे पापास्रवका स्वरूप कहते हैं—

**चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।**
**परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१४७॥**

चर्या प्रमादबहुला कालुष्यं लोलता च विषयेषु।
परपरितापापवादः पापस्य आस्रवं करोति ॥ १४७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(पमादबहुला) प्रमादसे भरी हुई (चरिया) क्रिया, (कालुस्सं) चित्तका मलीनपना (य) और (विसयेसु) इंद्रियोंके विषयोंमें (लोलदा) लोलुपता (य) तथा (परपरितावपवादो) दूसरोंको दुःखी करना व उनकी निन्दा करनी (पावस्स) पापकर्मका (आसवं) आस्रव (कुणदि) करते हैं।

विशेषार्थ-प्रमादरहित चैतन्यके चमत्कारकी परिणतिको रोकनेवाली विषय कषायकी ओर झुकी हुई चारित्रकी परिणतिको प्रमादबहुला चर्या कहते हैं। मलीनता रहित चैतन्यके चमत्कारसे विपरीत भावको मलीन भाव या कलुषता कहते हैं। पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे दूरवर्ती आत्मसुखके अनुभवसे प्रतिकूल विषयोंमें अतिलोभके परिणामको विषयलोलुपता कहते हैं। दूसरोंको दुःख देनेसे रहित शुद्ध आत्मानुभवसे विलक्षण दूसरोंको कष्ट देनेरूप परिणामको परपरिताप कहते हैं। अपवादरहित स्वात्मानुभवसे विपरीत परकी निन्दा करने रूप भावको पर अपवाद कहते हैं, इन पांच प्रकारके भावोंको भाव पापास्रव कहते हैं क्योंकि ये द्रव्य पापोंके आस्रवके कारण हैं। भाव पापोंके निमित्तसे मन, वचन, कायके योगों द्वारा आए हुए द्रव्यकर्मको द्रव्य पापास्रव कहते हैं, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-अशुभ भावोंसे पाप कर्मका आस्रव होता है। उन अशुभ भावोंके कुछ भेद गाथामें बताए हैं। प्रमाद सहित आचरणके कहनेसे आचार्यने हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रह इन पंच पापोंपर लक्ष्य दिलाया है क्योंकि ये पाप प्रमादकी बहुलतासे होते हैं। द्वेषकी बहुलतासे यह प्राणी अपने व दूसरेके प्राणोंको कष्ट देता है। रागकी बहुलतासे असत्य बोलता है, चोरी करता

है. परस्त्री आदिका, परधनका व संसार सम्पत्तिका अति मूर्छावान होजाता है। सामान्यसे कषाय सहित भावोंको प्रमाद कहते हैं। विशेषमें प्रमादके ८० भेद हैं। चार विकथा—स्त्री, भोजन, राष्ट्र व राजा, तथा चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ व पांच इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा तथा निद्रा और स्नेह इन १५ भेदोंको परस्पर गुणा करनेसे प्रमादके अस्सी भेद हो जाते हैं—एक प्रमाद भावमें इन पांचोंमेंसे एक कोई अवश्य रहता है। जैसे भोजनकी चाहनामें--भोजन कथा, लोभ कषाय, रसना इंद्रिय, निद्रा व स्नेह गर्भित हैं। तीव्र कषायोंके उदयसे जब उपयोग संक्लेश रूप या मलीन होजाता है तब वह उपयोग कलुषित कहलाता है जिस मलीनभावके होनेपर पापकर्म करनेकी चिंता व्याप जाती है—शुभ कार्योंसे अरुचि होजाती है। पांचों इंद्रियोंके भोगोंमें अति लीन होनेसे ऐसी गृद्धिता बढ़ जाती है कि इंद्रियलोलुपीसे त्याग या संयम कुछ भी नहीं पलता है। वह रातदिन खानेपीने, सैर करने, नाच देखने, गाना सुनने, अतरफुलेल लगाने व स्वस्त्री परस्त्रीके भीतर रमनेमें ही आसक्त होजाता है। योग्य अयोग्य, अभक्ष्य या भक्ष्यका विचार छोड़ बैठता है। बहुतसे जीव अन्य जीवोंकी निंदा करनेमें ही लग जाते हैं। उसीसे उनको प्रसन्नता होती है। कितने ही जीव दूसरोंको दुःखी करनेमें ही राजी होते हैं। इत्यादि जितने अशुभभाव हैं वे सब पापबन्धके कारण हैं। वास्तवमें सर्व पापोंका मूल कारण हिंसात्मक प्रमादभाव है। इस कारण ज्ञानीको प्रमादभावसे अपनी रक्षा करनी योग्य है—जैसा सारसमुच्चयमें कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

प्रमादं ये तु कुर्वन्ति मूढा विषयलालसाः।
नरकादिषु तिर्यक्षु ते भ्रमन्ति चिरं नराः॥ २६॥

भावार्थ–जो मूर्ख पुरुष विषयोंके लोलुपी होकर प्रमाद करते हैं वे नरकादिमें व तिर्यंच गतिमें बहुत भ्रमण करते हैं। अतएव असावधानीको छोड़कर नित्य शुभ कार्योंमें ही अपनेको लगाना योग्य है जिससे पापकर्मका आस्रव न हो।

उत्थानिका–आगे पापास्रवका कथन विस्तारसे कहते हैं–

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥ १४८॥

संज्ञाश्च त्रिलेश्या इन्द्रियवशता चार्तरौद्रे।
ज्ञानं च दुःप्रयुक्तं मोहः पापप्रदा भवन्ति॥ १४८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(सण्णाओ) चार संज्ञाएं (य) तथा (तिलेस्सा) तीन लेश्या (इंदियवसदा) इंद्रियोंके आधीन होजाना (य) और (अत्तरुद्दाणि) आर्त रौद्र ध्यान (दुप्पउत्तं णाणं) खोटे कार्योंमें लगाया हुआ ज्ञान (च) और (मोहो) मोहभाव ये सब (पावप्पदा) पापके देनेवाले (होंति) होते हैं।

विशेषार्थ–आहार आदि संज्ञाओंसे रहित शुद्ध चैतन्यकी परिणतिसे भिन्न ये आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाएं हैं। कषाय और योग दोनोंसे रहित विशुद्ध चैतन्यके प्रकाशसे जुदी कषायके उदयसे रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्ति लक्षणको रखनेवाली कृष्ण, नील, कापोत तीन अशुभ लेश्याएं हैं, स्वाधीन अतीन्द्रिय सुखके स्वादकी परिणतिको ढकनेवाली पांच इंद्रियोंके विषयोंकी आधीनता है, सर्व विभाव व इच्छाओंसे रहित शुद्ध चैतन्यकी भावनाके रोक-

नेवाले इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, रागविनाश व भोग इन निदान रूप कांक्षासे भरे हुए तीव्रभावको चार प्रकार आर्त्तध्यान कहते हैं। क्रोधके वेगसे शून्य शुद्धात्मानुभवकी भावनासे दूरवर्ती दुष्ट चित्तसे पैदा होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी व परिग्रहके रक्षणमें आनंदरूप चार रौद्रध्यान हैं। शुभोपयोग व शुद्धोपयोग दोनोंको छोड़कर मिथ्यादर्शन व रागादिभावोंके आधीन होकर अन्य किसी दुष्टभावमें प्रवर्तन करनेवाले ज्ञानको दुःप्रयुक्तज्ञान कहते हैं, मोहके उदयसे पैदा होनेवाले ममत्व आदिके विकल्पजालोंसे रहित जो स्वानुभूति उसका नाश करनेवाला दर्शनमोह और चारित्र मोह कहा जाता है। इत्यादि विभाव भावोंका प्रपंच है। ये सब भाव पापकर्मके आस्रवके कारण हैं।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने बहुत उपयोगी कथन किया है और एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रिय तकके जीवोंके जो जो भाव पाप बंधके कारण होसक्ते हैं उन सबको इसमें बता दिया है। चार संज्ञाएं, तीन लेश्याएं व इंद्रियाधीनपना तो सर्व ही मिथ्यादृष्टी जीवोंके सामान्यसे पाया जाता है। वृक्षादि एकेंद्रिय, लट आदि द्वेंद्रिय, चींटी आदि तेंद्रिय, मक्खी आदि चौंद्रिय व मच्छ आदि पंचेंद्रिय सबके आहारकी इच्छा है, भय है कि कहीं प्राण न चले जावें, परस्पर एक दूसरेको स्पर्शनेकी इच्छा है, अपने शरीरसे व अपने शरीरके कारण आहारादिसे अति ममत्व है—इसीसे मक्खी मधुको, चींटी दानेके ढेरको एकत्र करते हैं, क्षुद्र जंतु भी अपनी रक्षाके लिये भूमिमें वासका स्थान बना लेते हैं, खटमल आदि मारनेवाले या पकड़नेवालेकी आहट पाते ही तुर्त भयसे भाग जाते हैं-ये सब जंतु

अपनी२ इंद्रियोंके आधीन होकर जीवनपर्यंत कर्म किया करते है या दुःखसुख भोगा करते हैं। कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या सम्बन्धी परिणाम एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियतक सर्व जीवोंमें पाए जाते हैं। निगोद जीवमें भी ये तीन लेश्याएं होती हैं। कषायोंकी जहां अधिक तीव्रता होती है वहां कृष्ण, जहां कुछ उससे कम तीव्रता होती है वहां नील, जहां और भी कम तीव्रता होती है वहां कापोतलेश्याके भाव होते हैं—ये तीनों भाव अपने स्वार्थके साधनेवाले व उस स्वार्थमें बाधकोंसे द्वेष करके उनकी हानि करनेवाले होते हैं। जहां परके हितका भाव हो वहांसे पीतलेश्या जो शुभ है प्रारम्भ होती है—असैनी पंचेंद्रिय तकमें परके हितका भाव संभव नहीं है। इसलिये चौंद्रियतक तो तीन अशुभलेश्याएं ही शास्त्रमें बताई हैं। पंचेंद्रिय असैनीके कभी पीतलेश्या संभव है। कषायोंका उदय हरसमय एक ही प्रकारके वेगका नहीं रहता है। कभी अतितीव्र व कभी उससे कम होजाता है। इसीसे कर्मोंकी स्थिति व उनका अनुभाग बन्ध भी अनेक प्रकारका पड़ता है। यही कारण है जो किसी निगोद एकेंद्रिय जीवके भी कभी मनुष्य आयुका बंध होजाता है और वह जीव सीधा नित्यनिगोदसे निकल कर मनुष्य पैदा होजाता है। लेश्याओंसे ही सर्व कर्मोंका बंध होता है। बहुतसे लोग एकेंद्रिय आदि शरीरोंको मात्र भोग शरीर मानते हैं, वे कहते हैं कि उनके पाप बंध नहीं होता है। जैन सिद्धांत कहता है कि बंधका कारण कषाय और मोह है। क्योंकि इनका अस्तित्व सर्व ही एकेंद्रियादि जीवोंके है इसलिये सर्व ही जीव पापका बंध करते हैं—सामान्यसे सर्व ही संसारी जीव हर

समय पुराने कर्मोंका फल भोगते हुए भी नए कर्मोंका वन्ध करते रहते हैं। जो मनवाले पंचेंद्रिय जीव हैं उनके आर्त्त व रौद्रध्यानका होना पाप बन्धका कारण है । मिथ्यादृष्टियोंके तो ये ही दो ध्यान होते हैं, धर्मध्यान होता ही नहीं। मिथ्यादृष्टी रातदिन धन, धान्य, कुटुम्ब परिवारके रक्षणमें लीन रहते हैं उनके पोषणार्थ असत्य बोल देते, चोरी कर लेते व परको पीड़ा देकर भी धनादि संग्रह कर लेते हैं, इष्टके वियोगमें शोकित होजाते इत्यादि । सम्यग्दृष्टियोंके भी कभी२ ये दो ध्यान होजाते हैं-बुद्धिकी प्रवीणता पाकर या न्याय, व्याकरण, अलंकार, काव्य, वैद्यक आदिका ज्ञान पाकर भी बहुतसे मानव उनका उपयोग दूसरोंको ठगकर धन कमानेमें करते हैं। नाना प्रकार असत्य बोलकर अन्य जीवोंको अपने मायाजालमें फंसा लेते हैं, विषयभोगोंमें फंसनेके लिये दुष्ट काव्य, नाटक आदि बनाते हैं, व मिथ्यादर्शनमई एकांत मतके पुष्टिकारक पुस्तकोंकी रचना करके मिथ्यामतोंके जालमें जीवोंको फंसाकर सच्चे मार्गसे हटादेते हैं। ऐसा ज्ञान भी घोर पापके बंधका कारण है । सामान्यसे मिथ्यात्व तथा ममता आदि भाव पापबंधके कारण हैं । इत्यादि भावोंके बतानेका हेतु यही है कि जो अपना सच्चा हित चाहें उनको अपने भावोंके भीतरसे इन पापबंधकारी मैले भावोंको दूर करदेना उचित है । इस तरह द्रव्य पापास्रवके कारणभूत पूर्व सूत्रमें कहे हुए भावपापास्रवका विस्तार जानना चाहिये, यह अभिप्राय है । यहां कोई प्रश्न करे कि पहले पुण्य तथा पाप दोनोंको कह चुके थे उसीसे पूर्णता होनी थी फिर पुण्य तथा पापके आस्रवका क्यों व्याख्यान किया ? आचार्य इसका समाधान करते हैं कि जैसे जलके आनेके

द्वारसे जल ही आता है वैसे भावपाप या भावपुण्यके द्वारसे द्रव्य-पाप व द्रव्यपुण्यका आस्रव होता है। यहांपर उनके आस्रवकी मुख्यतासे कथन है वहां इन पुण्य पापके आनेके पीछे स्थिति व अनुभाग बन्धके रूपसे उनके ठहरनेकी मुख्यतासे कथन है यह विशेषता है। इस तरह नव पदार्थके बतानेवाले दूसरे महा अधिकारमें पुण्य व पापके आस्रवके व्याख्यानकी मुख्यतासे छः गाथाओंके समुदायसे छठा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

पीठका—आगे संवर तत्त्वका व्याख्यान करते हैं, जो संवर अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व देखे सुने अनुभए हुए भोगोंकी इच्छा रूप निदान बंध आदि सर्व शुभ व अशुभ संकल्पोंसे रहित शुद्धात्माके अनुभव रूप लक्षणमई परम उपेक्षा संयमके द्वारा सिद्ध किया जाता है। इस कथनमें "इन्दियकसाय" इत्यादि तीन गाथाओंसे समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—आगे पहली गाथामें कहे हुए पापके आस्रवके संवरके लिये कहते हैं—

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठमग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासवं छिद्दं ॥ १४१ ॥

इंद्रियकषायसंज्ञा निगृहीता यैः सुष्ठुमार्गे ।
यावत्तावत्तेषां पिहितं पापास्रवं छिद्रं ॥ १४१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जेहिं) जिन्होंके द्वारा (सुट्ठमग्गम्मि) उत्तम रत्नत्रय मार्गमें ठहरकर (जावत्) जबतक (इंदियकषाय सण्णा) इंद्रिय, कषाय व चार आहारादि संज्ञाएँ (णिग्गहिदा) रोक दिये जाते हैं (तावत्) तबतक (तेहिं) उन्होंके द्वारा (पावासवं) पापके आनेका (छिद्रं) छेद (पिहियं) बन्द कर दिया जाता है।

विशेषार्थ—यह जीव जिस गुणस्थानमें जाता है वहां जबतक ठहरता है उतने कालतक उन कर्म प्रकृतियोंका संवर रहता है जिनका वहां बन्धका अभाव आगममें बताया गया है। गुणस्थानके परिणामोंके अनुसार ही कर्मका आस्रव रुकता है।

नीचे लिखो गाथाके अनुसार कर्म प्रकृतियोंका आस्रव तथा बंध गुणस्थान २ प्रति रुकता जाता है—

"सोलस पणवीस णमं दस चउ छक्केक्कबंधवोछिण्णा।
दुगतीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को॥"

बंध योग्य १२० कर्मकी उत्तर प्रकृतियें हैं उनमें मिथ्यात्व गुणस्थानके आगे सोलहका, सासादनसे आगे पचीसका, चौथे अविरतिसे आगे दसका, पांचवें देशविरतिसे आगे चारका, प्रमत्तविरत नामके छटेसे आगे छःका, सातवें अप्रमत्तसे आगे एकका आठवें अपूर्वकरणसे आगे छतीसका, नौमें अनिवृत्तिकरणसे आगे पांचका, दसवें सूक्ष्मसांपरायसे आगे सोलहका, तेरहवें सयोग केवलि गुणस्थानसे आगे एकका बंध रुक जाता है। ज्यों २ मोह कम होता जाता है, कषाय घटता जाता है त्यों२ कर्मप्रकृतियें रुकती जाती हैं। इस तरह १६+२५+१०+४+६+१+३६+५+१६+१=१२० एकसौवीस बंध योग्य प्रकृतियोंका धीरे २ संवर होता जाता है। पहले सूत्रमें द्रव्य आस्रवके कारणभूत भाव पापास्रवको कहा था यहां उनहीके रोकनेके लिये द्रव्य पापास्रवके रोकनेरूप द्रव्यसंवरके कारणरूप भाव आस्रवके रोकनेरूप भाव संवरका स्वरूप जानना चाहिये, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—यहां आचार्यने यह स्पष्ट कर दिया है कि आस्रवका

विरोधरूप संवर रत्नत्रय मार्गके प्रतापसे ही होता है। जिस किसीको सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं और वह मिथ्यादृष्टी होकर पहले गुणस्थान हीमें है वह बाहरमें इंद्रियोंके रोकने, व कषायोंके दबाने तथा आहारादिकी इच्छाओंको रोकनेपर भी कर्मोंका संवर नहीं कर सक्ता क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके जीवकी रुचि इंद्रिय विषयोंसे हटती नहीं। क्रोधादि कषाय जीवके विभावभाव हैं व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाएं बंधकी कारण हैं यह रुचि दृढ़ नहीं होती तथा अपने शुद्ध कषाय रहित वीतराग स्वभावकी रुचि नहीं होती, आत्मानंदकी प्रतीति नहीं होती। विना सम्यक्तके इंद्रिय सुख ही ग्रहण योग्य झलकता है। इसलिये वह प्राणी न तो इंद्रियोंको रोक सक्ता है न कषायोंको जीत सक्ता है न आहार आदि संज्ञाओंसे बच सक्ता है। सम्यग्दर्शनके होजानेपर अनंतानुबन्धी कषायका उदय नहीं रहता है इसलिये न्याय, कर्तव्य अकर्तव्यका ध्यान हो जाता है यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी पंच अणुव्रतके नियमादि ग्रहण नहीं कर सक्ता है क्योंकि देश संयमके रोकनेवाले अप्रत्याख्याना-वरण कषायका उदय मौजूद है—यह चौथे गुणस्थानवाला यद्यपि प्रतिज्ञापूर्वक व्रती नहीं है तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भावका धारी होता है जिससे उसके भावोंमें शांति, धर्मानुराग व संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य, प्राणियोंपर दया तथा मोक्ष आदि पदार्थोंमें श्रद्धा होजाती है, इस कारण उसकी प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा बहुत विवेकपूर्ण व न्यायपूर्ण होजाती है। परमात्मा अरहंतकी भक्ति, गुरुसेवा, स्वाध्याय, स्वानुभव आदि भावशुद्धिके कारण कार्योंमें प्रवृत्ति करते हुए जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होजाता है

तब यह श्रावकके व्रतोंको पालता हुआ अणुव्रती होजाता है। पहली प्रतिमासे लेकर ग्यारह प्रतिमा तकके चारित्रको बढ़ाता हुआ चला जाता है। जब प्रत्याख्यानावरण कषायका भी उपशम होजाता है तब सर्व परिग्रह त्यागकर मुनि होजाता है। धर्मध्यानके अभ्यासे व शुक्ल ध्यानके प्रतापसे गुणस्थान चढ़ता हुआ जब ग्यारहवें गुणस्थानमें सर्व मोहका उपशम करदेता है व बारहवेंमें सर्व मोहका नाश करदेता है तब वीतरागी हो जाता है—कषायका मैल नहीं रहता है, मात्र योगोंकी प्रवृत्ति तेरहवें सयोगकेवली तक रहती है इससे मात्र सातावेदनीका आश्रव करता है—चौदहवें अयोग गुणस्थानमें इसका भी आश्रव रुक जाता है तब पुरातन कर्मोंको झाड़कर एकदम सिद्ध परमात्मा होजाता है। भावार्थ यही है कि ज्ञानी जीवको उचित है कि जिस तरहसे होसके सम्यग्दर्शनके पानेका उद्योग करे। यही संवर तत्वका मूल है। सम्यग्दर्शनका लाभ भेदविज्ञानके बिना नहीं होता। आत्माका स्वभाव सर्व रागादि नैमित्तिक भावोंसे, आठ कर्मोंसे व शरीरादिसे भिन्न है। यह यथार्थ ज्ञान होजाना भेद विज्ञान है। इस ज्ञानको पक्का करनेके लिये इसी ज्ञानकी भावना नित्य करनी योग्य है। इसी भावनाके दृढ़ अभ्याससे सम्यग्दर्शनका लाभ होता है।

इस भेदविज्ञानके विचारका मार्ग आगे स्वामीने समयसारमें इस तरह बता दिया है:-

अठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१७२॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मुज्झसहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२१०॥

भावार्थ-आठ प्रकार कर्ममें व शरीरादि नोकर्ममें कोई ज्ञान दर्शनोपयोग जो जीवका लक्षण है सो नहीं है। तथा उपयोग भी द्रव्य कर्म और नोकर्ममें नहीं है। जिनेन्द्र भगवानोंने कर्मोंके उदयका फल नानाप्रकारका कहा है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक अकेला जाननेवाला, ज्ञायक स्वभावका धारी हूं।

उत्थानिका-आगे सामान्यसे पुण्य तथा पापके संवरका स्वरूप कहते हैं:-

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१५०॥
यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु।
नास्रवति शुभमशुभं समसुखदुःखस्य भिक्षोः ॥ १५० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जस्स) जिसके भीतर (सव्व दव्वेसु) सर्व द्रव्योंमें (रागो दोसो मोहो वा) राग, द्वेष, मोह (ण) नहीं (विज्जदि) मौजूद हैं उस (समसुहदुक्खस्स) सुख व दुःखमें समान भावके धारी (भिक्खुस्स) साधुके (सुहं असुहं) शुभ या अशुभ कर्म (णासवदि) नहीं आते हैं।

विशेषार्थ-जीवके परमधर्म लक्षण स्वरूप शुद्धभावसे विपरीत रागद्वेष तथा मोह भाव हैं। जो साधु तपोधन रागद्वेष मोहसे रहित शुद्धोपयोगसे युक्त है वह सर्व शुभ तथा अशुभ संकल्पोंसे रहित शुद्ध आत्मध्यानसे पैदा होनेवाले सुखामृतमें तृप्तिरूप एक आकार समतारसमई भावके बलसे अपने भीतर सुख दुःख रूप हर्ष तथा विषादके विकारोंको नहीं होने देता है ऐसे सुख दुःखमें समभावके धारी साधुके शुभ अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता है। यहांपर शुभ

अशुभ भावके रोकनेमें समर्थ शुद्धोपयोगको भावसंवर तथा भावसंवरके आधारसे नवीन कर्मोका रुकना सो द्रव्यसंवर है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—यहां गाथामें यह बताया है कि जिसके बुद्धिपूर्वक अशुभ या शुभ कार्योंमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसे शुद्धोपयोगी साधुके पुण्य व पाप दोनों कर्मोका आस्रव नहीं होता है। सो अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक यद्यपि कषायका मंद उदय है और उससे यथासम्भव कर्मोका आस्रव व बंध भी होता है परन्तु वह इतना कम है कि यदि आस्रव या बंध नहीं कहें तोभी ऐसा कह सक्ते हैं। जहां बुद्धिपूर्वक रागकी अधिकता है वहीं अधिक कर्मबंध होता है। यहां प्रयोजन यह है कि साम्य-भावमें तिष्टना ही मुख्यतासे संवरका कारण है। जिसने निश्चयनयसे जगत मात्रके जीवोंको अपने समान देख लिया है, शुद्धनयसे सबको शुद्ध एकाकार अनुभव किया है उसीके ही राग, द्वेष, मोहका अभाव होता है व समता भावकी प्राप्ति होती है।

इस शुद्धोपयोगके बलसे ही उन्नति करते हुए यह आत्मा ऐसी परमात्म अवस्थाको पा लेता है जहां कर्मोका बिलकुल भी आस्रव नहीं होता है। वास्तवमें संवरका कारण शुद्धोपयोग है यही भावसंवर है—जैसा श्रीअमृतचंद स्वामीने समयसारकलशमें लिखा है:—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या।
भवति नियतमेषां शुद्धतत्वोपलम्भः॥
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां।
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥ ४॥

भावार्थ—जो भेदविज्ञानके बलसे अपने आत्माकी महिमामें

लीन होते हैं उन्हींको निश्चयसे शुद्ध आत्म तत्त्वका लाभ होता है–तब वे सर्व अन्य द्रव्योंसे निश्चलपने दूर रहते हैं ऐसा होनेपर कर्मोंसे मुक्ति होजाती है।

उत्थानिका–आगे अयोगिकेवलिजिनके गुणस्थानकी अपेक्षा पूर्ण प्रकारसे पुण्य पापका संवर होजाता है ऐसा कहते हैं–

**जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।**
**संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥ १५१॥**

यस्य यदा खलु पुण्यं योगे पापं च नास्ति विरतस्य।
संवरणं तस्य तदा शुभाशुभकृतस्य कर्मणः॥ १५१॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जदा) जिस समय (जस्स विरदस्स) जिस साधुके (जोगे) योगोंमें (खलु) निश्चयकरके (पुण्णं च पावं) पुण्य और पाप भाव (णत्थि) नहीं होते हैं (तदा) तिस समय (तस्स) उस साधुके (सुहासुहकदस्स) शुभ या अशुभ द्वारा प्राप्त (कम्मस्स) कर्मबंधका (संवरणं) संवर होजाता है।

विशेषार्थ–जिसके शुभ और अशुभ सर्व संकल्प छूट जाते हैं उस भगवान परमात्माके वास्तवमें योगोंका ही संवर होजाता है इसलिये पुण्य और पापसे रहित अनंत गुण स्वरूप परमात्मासे विलक्षण कर्मोंका पूर्ण संवर होजाता है। यहां यह कहा है कि निर्विकार शुद्ध आत्माकी अनुभूति भाव-संवर है और द्रव्यकर्मोंके आस्रवका रुकना द्रव्यसंवर है।

भावार्थ–यद्यपि गाथामें सामान्यसे संवरका कथन है तथापि वृत्तिकारने इस गाथाको चौदहवें अयोगि गुणस्थानके स्वरूपमें समझकर इसकी व्याख्या की है। वास्तवमें जहांतक योगोंका परिस्पंद है

यहांतक पूर्ण संवर नहीं होता है। यदि गुणस्थानके विचारको ध्यानमें न लेकर सामान्यपने गाथाका भाव ग्रहण करें तो यह समझमें आयगा कि बुद्धिपूर्वक जिस साधुके मनमें न किसी अशुभ कामके करनेका विचार है न शुभ काम करनेका विचार है, विरुद्ध इसके जिसका मन वीतरागतासे पूर्ण होकर आत्मानुभवमें तल्लीन है उस साधुके संवर तत्त्व है ऐसा समझना होगा। वह संसारके कारणभूत कर्मोंको रोके हुए है–कषाय उसकी इतनी मंद है कि योगीके ध्यानमें ही नहीं आती है। यद्यपि गुणस्थानोंके कथनके अनुसार उसके भी कर्म प्रकृतियोंका आस्रव होगा परन्तु मंद कषायके कारण उनकी स्थिति बहुत अल्प पड़ेगी–वे थोड़े कालमें ही झड़ जांयगे। चौथे गुणस्थानसे यह आत्मा धर्मध्यान कर सक्ता है। बस हम सबको उचित है कि धर्मध्यानका अच्छी तरह अभ्यास करें। एकांत स्थानमें बैठकर हमको १२ भावनाका चिन्तवन करना चाहिये तथा णमोकारमंत्र व अन्य मंत्रोंको जपते हुए अरहंतादि पंचपरमेष्ठीका स्वरूप विचारना चाहिये तथा अपने आत्माके शुद्ध गुणोंकी भावना भानी चाहिये। पुनः पुनः अपने आत्माके स्वरूपको चिंतवन करते हुए यकायक विचार थिर होजाता है। इसीको स्वानुभव कहते हैं। इस भावसे बहुत बड़ा संवर होता है। अध्यात्म भावमें रमण करना ही आत्माके कल्याणका परम बीज है। यही प्रधान कारण संवरका है। श्रीयोगेंद्रदेवने योगसारमें कहा है:—

धण्णा ते भयवंत बुह जे परभाव चयंति।
लोयालोयपयासयरु अप्पा विमल मुणंति ॥ ६३ ॥
सागारु वि णागारु हु वि जो अप्पाणिवसेइ।
सो पावइ लहु सिद्धसुहु जिणवरु एम भणेइ ॥ ६४ ॥

भावार्थ—वे संत पुरुष भाग्यवान तथा धन्य हैं जो परभावोंको छोड़ देते हैं और लोक अलोकके प्रकाशक निर्मल आत्माका मनन करते हैं। गृहस्थ हो या साधु हो जो कोई अपने आत्मामें रहता है अर्थात् अध्यात्ममें लीन हो स्वानुभव करता है वह शीघ्र ही सिद्धपद पालेता है ऐसा श्रीजिनेंद्र भगवान कहते हैं। यदि संहनन उत्तम हो और साधु हो तो उसी भवसे या परम्परासे मोक्षको लाभ कर सक्ता है। तात्पर्य यह है कि संवरकी प्राप्तिके लिये हमें आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

इस तरह नव पदार्थोंके कहनेवाले दूसरे महाअधिकारमें संवर पदार्थके व्याख्यानमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं—सातवां संवर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका—आगे शुद्धात्माका अनुभव रूप शुद्धोपयोगसे साधने-योग्य जो निर्जरा अधिकार है उसमें "संवर जोगेहिं जुदो" इत्यादि तीन गाथाओंसे समुदायपातनिका है। अब निर्जराका स्वरूप कहते हैं—

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥१५२॥

संवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिर्यश्चेष्टते बहुविधैः।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियतं ॥ १५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो साधु (संवर जोगेहिं जुदो) भावसंवर और योगाभ्यास या शुद्धोपयोग सहित है और (बहुविहेहिं तवेहिं) नानाप्रकार तपोंके द्वारा (चिट्ठदे) पुरुषार्थ करता है (सो) वह (बहुगाणं कम्माणं) बहुतसे कर्मोंकी (णिज्जरणं) निर्जरा (णियदं कुणदि) निश्चयसे कर देता है।

विशेषार्थ—निर्मल आत्माके अनुभवके बलसे शुभ तथा अशुभ भावोंका रुकना संवर है। निर्विकल्प लक्षणमई ध्यान शब्दसे कहने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो योग है। शुद्धात्मानुभवके सहकारी कारण बाह्य छः प्रकारके तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः तप स्वाभाविक शुद्ध अपने आत्माके स्वरूपमें तपने रूप अभ्यंतर तप हैं। जो साधु संवर और योगसे युक्त हो बारह प्रकार तपका अभ्यास करता है वह बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा अवश्य कर देता है। यहां यह भाव है कि बारह प्रकार तपके द्वारा वृद्धिको प्राप्त जो वीतराग परमानन्दमई एक शुद्धोपयोग सो भाव निर्जरा है। यही भाव द्रव्यकर्मोंको जड़मूलसे उखाड़नेको समर्थ है। इस शुद्धोपयोगके बलसे पूर्वमें बांधे हुए कर्म पुद्गलोंका रस रहित होकर संवर पूर्वक एक देश झड़ जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने निर्जराका उपाय व स्वरूप बताया है—जो कर्म अपनी बंधी हुई स्थितिके हिसाबसे उदयमें आकर फल देकर या विना निमित्त पाए यों ही झड़ जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है, सो सर्व संसारी जीवोंके है॥ उससे इस आत्माका वास्तविक कल्याण नहीं हो सक्ता है। वही निर्जरा हितकारिणी है जिसके प्रतापसे सागरों पर्यंतकी स्थितिवाले द्रव्यकर्म अपनी स्थितिको घटाकर झड़ जावें। इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा रत्नत्रय गर्भित वीतराग भावसे होती है। जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश पुरातन बंधे हुए कर्म रस

रहित होकर गिर जाते हैं। जिस समय यह जीव सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये तय्यारी करता हुआ करणलब्धिके शुद्ध भावोंको पाता है उस समय जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे असंख्यात-गुणी निर्जरा समय२ वृद्धिरूप सम्यग्दर्शनके प्राप्तिके कालमें अंतर्मु-हूर्त तक होती है। इसी तरह जब२ आगेके गुणस्थानमें चढ़ता है तब २ असंख्यात गुणी अधिक २ निर्जरा समय २ होती है। इस अविपाक निर्जराका बीज संसारका वैराग्य तथा मोक्ष प्राप्तिका ध्येय या श्रद्धान है। यही सम्यक्त व सम्यग्ज्ञानसे मिला हुआ सम्यक्चा-रित्रका अंश है। यही अंश अविपाक निर्जराका कारण है। जो गृहत्यागी मुनिगण हैं वे गृहजालकी चिन्तासे रहित हैं अतएव वे भलेप्रकार उपवास आदि बारह प्रकारके तपोंका साधन करते हुए अपने उपयोगको शुद्ध बनाते रहते हैं। इसी भाव निर्जरारूप शुद्ध भावसे वे बहुत अधिक द्रव्यकर्मकी निर्जरा कर देते हैं। ये बारह प्रकारके तप इंद्रियदमन, कष्टसहन व भावकी शुद्धिके प्रधान कारण हैं। इनमें मुख्य तप ध्यान है, शेष ग्यारह तप ध्यानके सहायक हैं। निर्जरा परम कल्याणकारिणी है। निर्जराका मुख्य उपाय भेद-विज्ञान तथा आत्म विचार है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रस्वामीने समयसारकलशामें कहा है—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्त्यमत्ताः।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुद्ध्यध्वमन्धाः॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ ६॥

भावार्थ—ये रागी जीव अनादिकालसे इस संसारमें जिस पदके भीतर नित्त्य उन्मत्त हुए सो रहे हैं वह तेरा निजपद नहीं

है। ऐ अन्ध पुरुषो! समझो, इधर आओ। इधर आओ तुम्हारा पद यही है, जहां चेतनामई आत्मा अत्यन्त शुद्ध अपने आत्मीक रससे भरा हुआ थिरताको प्राप्त होता है।

उत्थानिका–आगे प्रगट करते हैं कि आत्मध्यान ही मुख्यतासे कर्मोंकी निर्जराका कारण है–

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं॥१५३॥

यः संवरेण युक्तः आत्मार्थप्रसाधको ह्यात्मानं।
ज्ञात्वा ध्यायति नियतं ज्ञानं स संधुनोति कर्मरजः॥ १५३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो (संवरेण जुत्तो) संवरसे युक्त होकर (अप्पट्टपसाधगो) आत्माके स्वभावका साधनेवाला (हि) निश्चयसे (अप्पाणं) आत्माको (मुणिऊण) जानकरके (णियदं) निश्चित होकर (णाणं) आत्माके ज्ञानको (झादि) ध्याता है (सो) वह (कम्मरयं) कर्मोंकी रजको (संधुणोदि) दूर करता है।

विशेषार्थ–जो कोई शुभ व अशुभ रागादिरूप आस्रव भावोंको रोकता हुआ संवर भावसे युक्त है तथा त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वको समझकर अन्य प्रयोजनोंसे अपनेको हटाकर शुद्धात्मानुभवरूप केवल अपने कार्यका साधनेवाला है व जो सर्व आत्माके प्रदेशोंमें निर्विकार, नित्य, एक आनन्दमई एक आकारमें परिणमन करते हुए आत्माको रागादि भावोंसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा जानकर निश्चल आत्माकी प्राप्तिरूप निर्विकल्प ध्यानसे निश्चयसे गुण गुणीके अभेदसे विशेष भेदज्ञानमें परिणमन स्वरूप ज्ञानमई आत्माको ध्याता है सो परमात्म ध्यानका ध्यानेवाला कर्मकी

रजकी निर्जरा करता है। वास्तवमें ध्यान ही निर्जराका कारण है ऐसा इस सूत्रमें व्याख्यान किया गया है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने आत्मध्यानको ही मुख्यतासे कर्मकी निर्जराका कारण बताया है। वास्तवमें जो मोक्षका अर्थी जीव संसार वृद्धिके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदिसे विरक्त होकर अपने चित्तमें यह दृढ़ संकल्प कर लेता है कि मुझे आत्माकी उन्नति करनी है वह निश्चय तथा व्यवहारनयोंसे आत्माके स्वरूपको समझकर निश्चित व निःशंक होजाता है। फिर भेद विज्ञानके प्रतापसे कर्मोंसे दूध पानीकी तरह मिले हुए आत्माको सर्व अनात्माओंसे, सर्व कर्मजनित अशुद्ध भावोंसे तथा सर्व अन्य आत्माओंसे जुदा समझकर निश्चयनयके आश्रयसे आत्माका केवल असहाय शुद्ध स्वरूप ध्यानमें लेकर ध्याता है—अर्थात अपने आत्माके यथार्थ ज्ञानमें एकाग्रता पा लेता है। वह वीतरागी होता हुआ मोक्षमार्गमई अभेद रत्नत्रयमें तन्मई होकर अपने शुद्ध भावोंकी महिमासे बहुत अधिक कर्मोंकी निर्जरा कर देता है। श्री योगेन्द्रदेवने योगसारमें ऐसा ही कहा है—

> जो समसुक्खणिलीण वुहु पुण पुण अप्प मुणेइ।
> कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥६२॥

भावार्थ—जो योगी रागद्वेष त्याग समताके सुखमें लीन होकर वार वार अपने आत्माका मनन करता है या आत्मध्यान करता है वह कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ थोड़े कालमें मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

उत्थानिका—आगे पहली गाथामें ध्यानको निर्जराका कारण

बताया है उस ध्यानकी उत्पत्तिकी मुख्य सामग्री बताते हैं—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१५४॥

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो ध्यानमयो जायते अग्निः ॥ १५४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जस्स) जिस महात्माके भीतर (रागो) राग, (दोसो) द्वेष, (मोहो) मोह, (वा) तथा (जोगपरिकम्मो) मन, वचन, काय योगोंका वर्तन (ण) नहीं (विज्जदि) है । (तस्स) उसके अन्दर ( सुहासुहडहणो ) शुभ या अशुभ भावोंको जलानेवाली (झाणमओ) ध्यानमई (अगणी) अग्नि (जायए) पैदा होती है।

विशेषार्थ—दर्शनमोह और चारित्रमोह कर्मके उदयसे पैदा होनेवाला शरीर आदि पदार्थोंमें ममतारूप विकल्प जाल उससे रहित तथा मोहरहित शुद्ध आत्माके अनुभव आदि गुणोंसे पूर्ण जो उत्कृष्ट आत्मतत्व है उससे विलक्षण राग, द्वेष तथा मोहका परिणाम है। शुभ तथा अशुभ कर्मकांडसे रहित व क्रिया रहित शुद्ध चैतन्यकी परिणतिरूप ज्ञानकांडसे पूर्ण परमात्म पदार्थसे विपरीत मन, वचन, कायके क्रियारूप व्यापारको योग परिणाम कहते हैं। जिस योगीके न ये रागद्वेष मोह हैं न ये योगोंके भाव हैं वही ध्याता है। उसके लिये यही ध्यानकी मुख्य सामग्री कही गई है । अब ध्यानका लक्षण कहते हैं । ध्यानकी वही अग्नि कहलाती है जो शुभ तथा अशुभ कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये बलवती है। जिसके यह ध्यानकी अग्नि पैदा होती है उस योगीकी परिणति विकाररहित व क्रियारहित चैतन्यके चमत्कारमें रमण करनेवाली होती है । जैसे

थोड़ीसी भी अग्नि वहुत अधिक तृण व काठके ढेरको थोड़े ही कालमें जला देती है तैसे मिथ्यादर्शन व कषाय आदि विभावोंकी त्यागरूप महावायुसे वढ़ती हुई तथा अपूर्व व अद्भुत परमानंदमई सुखरूपी घृतसे सींची हुई निश्चल आत्माकी अनुभूतिरूप ध्यानकी अग्नि मूल व उत्तर प्रकृतिके भेदोंसे अनेकरूप कर्म-रूपी ईंधनके ढेरको क्षणमात्रमें जला देती है। यहां शिष्यने कहा—इस पंचमकालमें ध्यान नहीं हो सक्ता है क्योंकि न तो इस समय दश पूर्व व चौदह पूर्वके धारी श्रुतज्ञानी पुरुष हैं न प्रथम संहनन ही है। इस शंकाका समाधान आचार्य करते हैं—इस पंचमकालमें शुक्लध्यान नहीं है जैसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने स्वयं मोक्षपाहुड़में कहा है:—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहाव विदे ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी॥
अज्जवितियरणसुद्धा अप्पाझाए वि लहहि इदंतं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥

भावार्थ—इस भरतक्षेत्रके पंचम दुःखकालमें सम्यग्ज्ञानीके धर्मध्यान होसक्ता है सो आत्मस्वभावके ज्ञाताके होता है। जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है। अब भी मन, वचन, कायको शुद्ध रखनेवाले आत्माका ध्यान करके इंद्रपना तथा लौकान्तिक देवपना पासक्ते हैं। वहांसे आकर मोक्ष जा सक्ते हैं।

इसके लिये भी युक्ति कहते हैं। यदि इस कालमें यथाख्यात नामका निश्चयचारित्र नहीं होसक्ता है तो सरागचारित्र नामके अपहृत संयमको तपस्वीजन पाल। जैसा कि तत्वानुशासनमें कहा है—

चरितारो न संत्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपोधनाः ॥

भावार्थ-यदि इस कालमें यथाख्यातचारित्रके धारी नहीं है तो क्या अन्य तपस्वी यथाशक्ति चारित्र न पालें ?

यह जो कहा है कि सर्व श्रुतज्ञानके धारियोंके ध्यान होता है सो उत्सर्ग अर्थात् उत्कृष्ट वचन है-अपवाद रूप या मध्यम व्याख्यानमें कहा है कि पांच समिति और तीन गुप्तिके बतानेवाले श्रुत मात्रके ज्ञानसे ही केवलज्ञान होजाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह बात कैसे सिद्ध होती है जैसा कि कहा है "तुस मासं घोसंतो सिवभूदो केवली जादो" अर्थात् तुष और माष या दाल भिन्न हैं ऐसे ही आत्मा अनात्मासे भिन्न है ऐसा घोखते हुए शिवभूति मुनि केवलज्ञानी होगए।

ऐसा ही चारित्रसारादि ग्रंथोंमें पुलाक आदि पांच निर्ग्रंथ मुनियोंके व्याख्यानमें कहा गया है। जो मुहूर्त्त पीछे केवलज्ञान उत्पन्न कर सक्ते हैं उनको निर्ग्रंथ कहते हैं वे क्षीण कषाय नाम बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। उनको उत्कृष्ट श्रुत चौदहपूर्वका ज्ञान होता है व जघन्य पांच समिति व तीन गुप्तिका ज्ञान अर्थात् आठ प्रवचन मातृकाका ज्ञान होता है, और यह जो कहा है कि वज्रवृषभ नाराच नामके पहिले संहननसे ध्यान होता है यह भी उत्सर्ग वचन है। अपवाद व्याख्यान यह है कि अपूर्व आदि गुणस्थानवर्ती उपशम तथा क्षपक श्रेणीमें शुक्लध्यान होता है उसकी अपेक्षा उत्तम संहननका नियम है। अपूर्व गुणस्थानसे नीचे धर्मध्यान अन्य संहननवालोंके होसक्ता है ऐसा निषेध नहीं है। ऐसा ही तत्त्वानुशासनमें कहा है-

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं ॥ ८४ ॥

भावार्थ-जो यहां आगममें ध्यान वज्रकायवालेके कहा है वह श्रेणीकी अपेक्षा शुक्लध्यानको लेकर कहा है। श्रेणीके नीचे ध्यानका निषेध नहीं है। इस तरह थोड़े श्रुतके ज्ञानसे भी ध्यान होता है ऐसा जानकर शुद्ध आत्माको बतानेवाले, संवर तथा निर्जराके कारण जरा व मरणके हरनेवाले कुछ भी सार उपदेशको ग्रहण करके ध्यान करना योग्य है यह भाव है। कहा भी है-

अंतो णत्थि सुदीणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा ।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जंजरमरणं खयं कुणइ ॥

भावार्थ-शास्त्रोंका पार नहीं है, आयुका काल थोड़ा है, हम लोगोंकी बुद्धि अल्प है इसलिये उसे ही सीखना चाहिये जिससे जरा व मरणका नाश होजावे।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि ध्यानके प्रतापसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है-तथा ध्यान उसी समय निश्चल हो सक्ता है जब मनको थिर किया जावे, वचनको रोका जावे व शरीरको स्थिर आसनमें रक्खा जावे और सर्व जीवमात्रमें समताभाव लाया जावे। यह समताभाव तब ही होसक्ता है जब निश्चयनयकी दृष्टिसे पदार्थोंको देखा जावे-जिस दृष्टिमें सर्व जीवमात्र शुद्ध एकाकार झलकते हैं तथा पुद्गल आदि पांच द्रव्य अलग२ प्रगट होते हैं-द्रव्यकी मूल दृष्टिमें छहों द्रव्य शुद्ध रूप जान पड़ते हैं। व्यवहारदृष्टि या पर्यायदृष्टि भेदरूप व अनेक अवस्थारूप जगतके नाटकको देखनेवाली है। इसी दृष्टिमें यह प्रकाशित होता है कि ये मेरे शत्रु हैं ये मेरे मित्र हैं। यह धन व परिग्रह

मेरा उपकारक है, यह स्थान अच्छा है यह बुरा है, ये मेरे पुत्रादि कुटुंब हैं, ये मेरे संवन्धी हैं, इसलिये ध्याताको उचित है कि ध्यानके समय इस व्यवहारनयके विचारको बंद करदे—मात्र निश्चयनयसे देखने लग जावे! निश्चयनयके विचारमें आते ही छः द्रव्योंमेंसे उपयोग एक अपने आतमद्रव्यको ग्रहण करलेता है—इसीको ध्यान कहते हैं। जितनी देर तक उपयोग अपने आत्माके सन्मुख रहता है उतनी देर ध्यानकी अग्नि जलती है जो अग्नि वीतरागभावमें प्रकाशमान होती हुई शुभ तथा अशुभ भावोंको रोक देती है। शुद्धोपयोगके प्रतापसे गुणस्थानोंमें चढ़नेकी परिपाटीके अनुसार नवीन बंध हटता जाता है व पुरातन बंधे हुए कर्मोंकी अधिक २ निर्जरा होती जाती है। इसलिये जो मोक्षमार्गके प्रेमी हैं उनको इस पंचमकालमें भी आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है। इस समय अर्धनाराच, कीलित व सृपाटिका ये तीन ही नीची श्रेणीके संहनन होते हैं इसलिये उपशम तथा क्षपकश्रेणी नहीं होसक्ती है और न शुक्लध्यान होसक्ता है परन्तु अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थान होसक्ते हैं इसलिये धर्मध्यान सम्बन्धी आत्मध्यान भलेप्रकार किया जासक्ता है। यह धर्मध्यान चौथेसे लेकर सातवें तक होता है—इसलिये प्रमाद छोड़कर भव्य जीवोंको आत्मध्यानका अभ्यास दृढ़तापूर्वक करना चाहिये। वास्तवमें जब सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होजाती है और आपमें आपकी झलक प्रगट होजाती है तब आत्मानंदका लाभ होजानेसे उस ज्ञानीकी इतनी गाढ़ रुचि होजाती है कि उसको विना आत्मानुभव या आत्मध्यानके किये चैन ही नहीं पड़ती है। जिनको आत्मरुचि व आत्मानंदका लाभ नहीं है वे ही इतना

कहकर रह जाते हैं कि यह पंचमकाल है इसमें ध्यान नहीं हो सक्ता है। उनका यह विकल्प सर्वथा मिथ्या व अरुचिवर्द्धक है। कर्मोंके बंधके निवारणके लिये आत्मध्यान ही एक मुख्य उपाय है। तथा जहां साम्यभाव है वहीं आत्मध्यान है तथा वहीं कर्मोंकी निर्जरा होती है। जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वसप्ततिमें कहा है—

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतं ।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥ ६६ ॥
साम्यं तद्बोधिनिर्माणं, शश्वदानंदमंदिरं ।
साम्यं शुद्धात्मनो रूपं, द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥ ६७ ॥
साम्यं निःशेषशास्त्राणां, सारमाहुर्विपश्चिताः ।
साम्यं कर्ममहाकक्षदाहे दावानलायते ॥ ६८ ॥
साम्यं शरणमित्याहुर्योगिनां योगगोचरं ।
उपाधिरचिताशेषदोषक्षपणकारणं ॥ ६९ ॥

भावार्थ—एक समताभावको ही करना योग्य है। साम्यभावको परमतत्व कहा गया है। सर्व उपदेशोंमें साम्यभावका उपदेश मुक्तिका कारण है। यह समताभाव रत्नत्रयमई भावसे रचित है, सदा आनंदका मंदिर है। समताभाव शुद्ध आत्माका स्वभाव है तथा मोक्ष महलका द्वार है। समताभावको ही विद्वानोंने अनेक शास्त्रोंका सार कहा है। यह समताभाव ही कर्मोंकी महासेनाको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है। योगियोंके लिये ध्यानके गोचर एक समताभावको ही शरण कहा है—यह समताभाव कर्मकी उपाधिसे रचित सर्व दोषोंके नाशका कारण है।

इस तरह नव पदार्थके कहनेवाले दूसरे महा अधिकारमें निर्जराके कहनेकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा आठवां अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे निर्विकार परमात्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गसे विलक्षण बंध पदार्थके अधिकारमें "जं सुहं" इत्यादि तीन गाथाओंके द्वारा समुदायपातनिका है-प्रथम ही बंधका स्वरूप कहते हैं—

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा ।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१५५॥

यं शुभाशुभमुदीर्णं भावं रक्तः करोति यद्यात्मा ।
स तेन भवति बद्धः पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १५५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) जब (रत्तो) यह कर्मबंध सहित रागी (अप्पा) आत्मा (उदिण्णं) कर्मोंके उदयसे प्राप्त (जं) जिस (सुहम्) शुभ ( असुहम् ) अशुभ (भावं) भावको (करेदि) करता है (स) वही आत्मा (तेण) उस भावके निमित्तसे (विविहेण) नाना प्रकार ( पोग्गलकम्मेण ) पुद्गल कर्मोंसे (बंधो हवदि) बंध रूप होजाता है ।

विशेषार्थ-यह आत्मा यद्यपि निश्चयनयसे शुद्धबुद्ध एक स्वभावका धारी है तथा व्यवहारनयसे अनादि कर्मबंधनकी उपाधिके वशसे रागी होता हुआ निर्मल ज्ञान तथा आनंद आदि गुणोंका स्थान रूप जो शुद्ध आत्मा उसके स्वरूपमें परिणमन करनेसे भिन्न जो उदयमें प्राप्त शुभ या अशुभ भाव है उसको अपनी आत्मानुभूतिसे गिरा हुआ करता है तब वही आत्मा उस रागादि परिणामके द्वारा नानाप्रकार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकर्मोंसे बंध जाता है । यहां यह कहा है कि शुद्धात्माकी परिणतिसे विपरीत जो शुभ तथा अशुभ भाव है सो भावबंध है उसके

निमित्तसे जैसे तैलसे लिप्त पुरुषोंके मलका बंध होता है वैसे इस अशुद्ध रागी जीवके साथ कर्मपुद्गलोंका सम्बन्ध हो जाता है, सो द्रव्यबन्ध है यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बन्धका स्वरूप बताया है। पुद्गलकार्मण जातिकी वर्गणाएं सर्वत्र लोकमें फैली हुई हैं। वे वर्गणाएं आत्माकी योगशक्तिके परिणमनसे खिंचकर आत्माके सब प्रदेशोंमें आकर छाजाती है अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध कर लेती हैं, इस हीको द्रव्यबन्ध कहते हैं। इस बन्धके होनेके निमित्तकारण इस आत्माके शुभ तथा अशुभ भाव हैं। इन भावोंको भावबन्ध कहते हैं। ये भाव आत्माके स्वाभाविक भाव नहीं हैं औपाधिक भाव हैं। आत्माका स्वभाविक भाव शुद्धोपयोग है जो बंधका नाशक है। पूर्व बांधे हुए मोहनीयकर्मके निषेक अर्थात् कर्मसमूह जब द्रव्य, क्षेत्र, कालादिके निमित्तसे उदय होते हैं तब आत्माका भाव स्वयं राग, द्वेष, मोह, रूप हो जाता है। यही भाव कर्म बंध होनेके निमित्त हैं। मिथ्यादर्शन और क्रोधादि कषाय बंधके मूल कारण हैं इन ही के कारण जो बंध होता है उसमें स्थिति तथा अनुभाग पड़ जाते हैं। जिनके मिथ्यात्व भाव होता है वे शुभ व अशुभ कार्योंको अहंकार बुद्धिसे करते हुए उनमें तन्मय होजाते हैं। शुद्ध आत्मीक परिणतिको तथा अतीन्द्रिय सुखको न पहचा-नते हुए वे इंद्रिय सुख व सांसारिक मान मर्यादाके लोभमें पड़े हुए ही सर्व क्रिया करते हैं जिससे उनके गाढ़ कर्मका बंध पड़ता है परन्तु जो सम्यग्दृष्टी होते हैं वे श्रद्धानमें संसारको व उसके सर्व कार्यको हेय अर्थात् त्यागने योग्य समझते हैं। कषायोंके उदयके

कारण उनके पहले संस्कारके वश राग द्वेष होता है जिनको वे कर्मकृत रोग जानते हैं तथापि आत्मबलकी मंदतासे उन रागद्वेष भावोंको दूर नहीं कर सक्ते हैं किन्तु उनके वशमें हो नाना प्रकार मन, वचन, कायके वर्तन करते हैं जिनसे वे वंधको प्राप्त होजाते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके रागद्वेप मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा वहुत हलके होते हैं इससे उसके वंध भी वहुत कम स्थितिका पड़ता है—जितना जितना रागभाव घटता जायगा उतना उतना वंध भी हलका होता जायगा तथापि ज्ञानीको वंधके अभावके लिये अध्यात्मरसमें रुचि रखकर तथा आत्मबलको प्रगटकर बलात्कार रागद्वेषको वशकर वीतरागभावका अभ्यास करना चाहिये। यही अभ्यास सत्तामें वंधे हुए मोहकर्मके अनुभाग या फलदान शक्तिको निर्वल कर देगा। यदि उनमें अस्थि तथा पापाणरूप शक्ति होगी तो उनको काष्ट तथा लतारूप मंद कर देगा।

मूल संसारका कारणरूप वंध शुभ व अशुभ कार्योंमें अहंकार वुद्धिसे होता है। जैसा स्वामी कुंदकुंदाचार्यने समयसारमें कहा है—

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुवेपि सव्वे पुण्णं पावं अणेयविहं॥ २८५॥

भावार्थ—वह जीव रागादि अध्यवसानके कारण सर्व ही तिर्यंच, नरक, देव व मनुष्य सम्बन्धी अनेक प्रकार शुभ तथा अशुभ भावोंको अपना कर लेता है, ये अशुद्ध भाव मेरे स्वभाव हैं इस भूलसे गाढ़ वंधनको प्राप्त होता है। हिंसाके सम्बन्धमें और भी स्वामी कहते हैं—

मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एव मज्झवसिदंते।
तं पाव वंधगं वा पुण्णस्स य वंधगं होदि॥ २७२॥

भावार्थ-मैं जीवोंको मारता हूं ऐसा जो द्वेष रूप भाव है वह पापका बांधनेवाला है तथा मैं जीवोंकी रक्षा करता हूं-उनको जिलाता हूं ऐसा जो शुभ राग रूप भाव है वह पुण्यका बांधनेवाला है। बाहरी पदार्थ वंधके कारण नहीं हैं। वन्धके कारण जीवके अपने ही औपाधिक भाव हैं इसलिये इन भावोंको दूर करना चाहिये।

उत्थानिका-आगे वहिरंग व अंतरंग वन्धके कारणका उपदेश करते हैं-

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो वंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१५६॥

योगनिमित्तं ग्रहणं योगो मनोवचनकायसंभूतः।
भावनिमित्तो वन्धो भावो रतिरागद्वेषमोहयुतः ॥ १५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जोगणिमित्तं) योगके निमित्तसे कर्म-पुद्गलोंका ग्रहण होता है। (जोगो) योग (मणवयणकायसंभूदो) मन, वचन, कायकी क्रियासे होता है। (वंधो) उनका वंध (भावणिमित्तो) भावोंके निमित्तसे होता है। (भावो) वह भाव (रदिरागदोसमोहजुदो) रति, राग, द्वेष व मोहसहित मलीन होता है।

विशेषार्थ-क्रियारहित व निर्विकार चैतन्य ज्योतिरूप भावसे भिन्न मन, वचन, कायकी वर्गणाके आलम्बनसे व्यापाररूप हुआ आत्मप्रदेशोंका हलनचलन रूप लक्षणधारी योग है, जो वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे कर्मोंको ग्रहण करनेका हेतु होता है। रागादि दोषोंसे रहित चैतन्यके प्रकाशकी परिणतिसे भिन्न जो दर्शनमोह और चरित्रमोहसे उत्पन्न हुआ भाव सो रति, रागद्वेष मोह

युक्त भाव है। यहां रति शब्दसे रतिसे अविनाभावी हास्य, व स्त्री, पुं, नपुंसक वेदरूप नोकषायको लेना व राग शब्दसे माया व लोभरूप राग परिणामको लेना, द्वेष शब्दसे क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, रूप ऐसे छः प्रकार द्वेषभावको लेना तथा मोह शब्दसे दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन भावको लेना योग्य हैं। इन भावोंसे स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं। यहां बंधका बाहरी कारण योग है क्योंकि इसीके कारणसे कर्मोंका ग्रहण होकर प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं। तथा कषायभाव, अंतरंग कारण है क्योंकि इसी कषायभावसे कर्मोंमें स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं जिससे बहुत कालतक कर्म पुद्गल आत्माके साथ ठहर जाते हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बंधके कारणोंको बताया है-बाहरी कारण मन, वचन, कायका वर्तन है-मन या वचन या कायकी क्रियाके निमित्तसे उसी समय जब इनका परिणमन होता है आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं क्योंकि आत्मा मन, वचन, कायके साथ एक ही क्षेत्रमें तिष्ठा हुआ है। द्रव्य मन आठ पांखड़ीके कमलके आकार हृदय स्थानमें है, वचन ओठ, तालु आदि शरीरके अंगोंके निमित्तसे होता है वहां भी आत्माके प्रदेश हैं। कायमें तो सर्वत्रव्यापी हैं ही। आत्माके प्रदेशोंके सकम्प होनेको द्रव्य योग कहते हैं। इस द्रव्ययोगके निमित्तसे तथा शरीर नाम कर्मके उदयसे और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे योग नामा शक्ति जो आत्मामें मौजूद है वह कर्मोंके ग्रहणमें व आकर्षणमें उसी समय वर्तने लग जाती है। इस योग शक्तिको भाव योग कहते हैं। ऐसा ही श्री गोमटसार जीवकांडमें कहा है-

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

भावार्थ-मन, वचन, कायसे युक्त इस जीवके भीतर पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे, जो कर्मोंको खींचनेमें कारण शक्ति है उसको योग कहते हैं।

वास्तवमें यही योग है जिससे कर्मोंका आस्रव होता है तथा प्रकृति या प्रदेशबंध होता है। योगोंके तीव्र परिणमनसे अधिक कर्मवर्गणाएं आती हैं तथा मंद परिणमनसे कम आती हैं-कर्मवर्गणाओंकी गणनाको ही प्रदेशबंध कहते हैं।

श्री गोमटसार कर्मकांडमें कहा है-

उक्कडजोगो सण्णो पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो ।
कुणदि पदेसमुक्कस्सं जहण्णये जाण विवरीयं ॥ २१० ॥

भावार्थ-संज्ञी पर्याप्त जो थोड़ी कर्मोंकी प्रकृतियोंको बांधनेवाला है उसके उत्कृष्ट योग होता है तथा असैनी अपर्याप्त जो बहुत प्रकृति बांधनेवाला है उसके जघन्य प्रदेशबंध होता है।

आगेकी गाथामें प्रगट होगा कि जहां वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे वीर्य अधिक होता है वहीं योगशक्ति अधिक कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करती है।

आउक्कस्सपदेसं छक्कं मोहस्स णव दुठाणाणि ।
सेसाण तणुकसाओ बंधदि उक्कस्स जोगेण ॥ २११ ॥

भावार्थ-आयु कर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबंधको छःगुणस्थान उल्लंघ अप्रमत्त गुणस्थानी करता है। मोहनीयकर्मके उत्कृष्ट प्रदेश बंधको नवमा गुणस्थान अनिवृत्तकरणधारी करता है तथा शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अंतराय इन छः कर्मोंका

उत्कृष्ट प्रदेशबंध दसवां गुणस्थानवर्ती करता है। यहां उत्कृष्ट योग होता है।

योगोंमें कषायोंके उदयके निमित्तसे जो विशेषता होजाती है उस ही विशेषतासे सातवें गुणस्थान तक आठों कर्मोंके योग्य, नवमें तक आयुकर्मके सिवाय सात कर्मोंके योग्य व दसवेंमें मोहको भी छोड़कर मात्र छः कर्मोंके योग्य वर्गणाओंका ग्रहण होता है। जहां कषायका उदय बिलकुल नहीं होता है वहां शुद्ध योगोंसे मात्र साता वेदनीयके ही योग्य कर्मवर्गणाओंका ग्रहण होता है। आयुकर्मके योग्य वर्गणाओंका ग्रहण त्रिभाग आयुमें ही संभव है। कषायोंमें जो शक्ति होती है उसीसे ही कर्मोंमें स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं। आयुकर्मको छोड़कर सर्व ही पुण्य तथा पापरूप कर्मोंकी स्थिति तीव्रकषायसे अधिक तथा मंदकषायसे कम पड़ती है—आयुकर्ममें देव, मनुष्य व तिर्यंच आयुकी स्थिति मंदकषायसे अधिक व तीव्रकषायसे कम पड़ती है जबकि नर्क आयुकी स्थिति मंदकषायसे कम व तीव्रसे अधिक पड़ती है—जैसा श्री गोम्मटसार कर्मकांडमें कहा है—

सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सओ दु उक्कस्स संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउ गतिय वज्जियाणं तु ॥ १३४ ॥

भावार्थ—तिर्यंच, मनुष्य व देवायुको छोड़कर सर्व एकसौसत्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध यथासंभव उत्कृष्ट संक्लेशभाव या तीव्रकषायसे होता है तथा जघन्य स्थितिबंध उससे विपरीत विशुद्ध भाव या मंदकषायसे होता है।

अनुभाग बंधमें विशेषता यह है कि चार घातिया कर्म व अशुभनाम, गोत्र, वेदनीय, आयु इन सर्व पापकर्मोंमें कषायोंकी

अधिकतासे अधिक व कषायोंके मंद होनेसे कम अनुभागबंध होगा तथा सातावेदनीय, शुभ नाम, उच्चगोत्र व शुभ आयु कर्मोंमें कषायोंकी मंदतासे अधिक व कषायोंकी तीव्रतासे कम अनुभागबन्ध होगा। जैसा श्री गोम्मटसार कर्मकांडमें कहा है—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ १६३ ॥

भावार्थ—सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग बन्ध विशुद्धभाव या मंदकषायसे तथा मंद अनुभाग संक्लेशभाव या तीव्रकषायसे होगा तथा असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग संक्लेशभावसे व मंद अनुभाग विशुद्धभावसे होगा।

इस तरह यहां यह बताया गया है कि योग और कषाय ही चार प्रकार बन्धके कारण हैं। क्योंकि कर्मोंका फल अनुभागके अनुसार पड़ता है। इसलिये आत्महित खोजीको उचित है कि वह अपने भावोंमें विशुद्धि रक्खे, शांति भावको धारे। दया, क्षमा, संतोष, परोपकार भाव व मंद इंद्रिय विषयका राग रक्खे। न्यायपूर्वक परको क्लेश न पहुंचाता हुआ जीवन वितावे। जितना कषाय मंद होगा उतना ही पुण्य कर्मोंमें अधिक व पापकर्मोंमें कम अनुभाग पड़ेगा। इसका फल यह होगा कि जबतक यह संसारी जीव मुक्तिका लाभ न कर सके तबतक इसको सुखके कारण बाहरी सामग्री प्राप्त होते रहेंगे—दुःखके कारण रूप पदार्थोंके सम्बन्धसे बचता रहेगा। इसीलिये श्रीपद्मनंदि मुनिने गृहस्थोंको नित्य दान पूजादि कार्योंमें लीन रहनेकी आज्ञा दी है—

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत् ।
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ॥

संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य-
यत्तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥

भावार्थ-देव पूजा व भक्ति आदि वहुतसे कार्य पुण्यको पैदा करनेके हैं उनमें ग्रहस्थोंको नित्य वर्तना चाहिये, उन सबमें संसार-समुद्रसे तारनेको जहाज समान सत्पात्रोंको दान देना यह देश-व्रतधारी धनवानका उत्कृष्ट गुण है।

प्रयोजन यह है कि बंधके कारणोंको जानकर बंध रहित होनेका यत्न करना योग्य है परन्तु अशुद्ध भावमें उपयोग न रमे तब शुभ कार्योंको ही करना उचित है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि केवल योग ही बंधके बाहरी निमित्त कारण नहीं है किन्तु मिथ्यात्त्व आदि द्रव्यकर्म भी रागादि भावरूप कारणकी अपेक्षासे बाहरी निमित्त हैं—

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिंपि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झंति ॥ १५७ ॥

हेतुश्चतुर्विकल्पोऽष्टविकल्पस्य कारणं भणितम्।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावेन न बध्यन्ते ॥ १५७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( चदुव्वियप्पो ) चार प्रकार मिथ्यात्त्वादि (हेदू) कारण ( अट्ठवियप्पस्स ) आठ प्रकार कर्मोंके ( कारणं ) बंधके कारण ( भणिदं ) कहे गए हैं। ( तेसिंपि य ) तथा उन द्रव्यकर्म मिथ्यात्त्वादिके भी कारण (रागादी) रागादिभाव हैं ( तेसिम् ) इन रागादि भावोंके (अभावे) न होनेपर (ण वज्झंति) जीव नहीं बंधते हैं।

विशेषार्थ-उदयमें प्राप्त मिथ्यात्त्व, अविरति, कषाय, योग, चार प्रकार द्रव्यकर्म, नवीन आठ प्रकार द्रव्यकर्मके बन्धके कारण

कहे गए हैं जो कर्म रागादिकी उपाधिसे रहित व सम्यक्त आदि आठ गुण सहित परमात्म स्वभावके ढकनेवाले हैं। इन द्रव्यकर्मरूप कारणके भी कारण रागादि विकल्पसे रहित शुद्ध आत्मद्रव्यकी परिणतिसे भिन्न जीव सम्बन्धी रागादिभाव हैं-क्योंकि जीव संबंधी रागादि भाव कारणोंके अभाव होनेपर उन चार द्रव्य प्रत्ययों या कारणोंके रहते हुए भी जो जीव सर्व इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें ममता भावसे रहित हैं वे बन्धको नहीं प्राप्त होते हैं। यदि जीवके रागादिभावोंके विना भी इन द्रव्य प्रत्ययोंके उदय मात्रसे बन्ध होजाता हो तो सदा जीवके बन्ध ही रहे क्योंकि संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंका उदय रहता है। इसलिये यह जाना जाता है कि नवीन द्रव्य कर्मोंके बन्धके कारण उदय प्राप्त द्रव्य प्रत्यय हैं, उनके भी कारण जीवके रागादि भाव हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि न केवल योग ही बंधके बाहरी कारण हैं किन्तु द्रव्य प्रत्यय भी बंधके बाहरी कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि पूर्व-बद्ध द्रव्यकर्म भी उदयमें आते हुए बंधके कारण होजाते हैं-परन्तु वे उसी समय बंधके कारण होंगे जब आत्माके भावोंमें विकार भाव रागद्वेष मोह रूपसे उत्पन्न होंगे। यदि रागादि विकार भाव न हों और यह आत्मा अन्य परिणतिमें लीन रहे तो वे द्रव्यकर्म उदय होकर झड़ जांयगे, नवीन बंधके कारण नहीं होंगे। जैसे कोई जीव क्षयोपशम सम्यग्दृष्टी है और वह लगातार ६६ सागर तक ऐसा ही बना रहता है-इस जीवके देशघाति सम्यक्त प्रकृतिका ही उदय है, अन्य ६का उपशम है। चार अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्त्व व सम्यग्मिथ्यात्त्व सर्वघाती प्रकृतियें हैं। इनके निषेक इस ६६सागरके

मध्यमें जो उदयावलीमें आएंगे वे विना फल दिये झड़ जांयगे। वे सम्यक्तके प्रभावसे अपना फल न दिखला सकेंगे। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंका फल रूप उदय एक समयमें नहीं होता है, परन्तु इन चारोंके निषेक अपनी आवाधा कालके बाहर स्थितिके समयोंमें बटे हुए नियमसे हर समय उदय होकर झड़ते रहेंगे—जैसे जब क्रोधके फल रूप उदयसे कोई जीव क्रोध भावमें परिणमन कर रहा है तब मान, माया, लोभके निषेक उदय होकर भी भावोंमें विकार नहीं करके चले जारहे हैं—अथवा कोई जीव आत्मध्यान कर रहा है स्वानुभवमें लीन है, उस समय बुद्धिपूर्वक कोई भी विकल्प उसके भावोंमें नहीं है। यद्यपि अबुद्धिपूर्वक स्वात्म हितका राग है इससे हम प्रगट रूपसे उस समय एक श्रावकके या अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधुके लोभका उदय कह सक्ते हैं तब अन्य कषायोंका उदय मात्र फल रहित होकर झड़ रहा है अर्थात् वे कषाय विकार नहीं पैदा कर रहे हैं। गाथाका भाव यह है कि यदि मिथ्यात्व अविरति कषायादि द्रव्यकर्मोंका उदय न हो तब तो बन्धका निमित्त कारण रागादि भाव होगा ही नहीं, क्योंकि उनके उदय होनेपर रागादिभाव होजाता है इसलिये वे परम्परा नवीन द्रव्यकर्मके बंधके कारण होजाते हैं। यदि उनका उदय हो और उपयोगमें उनके उदयके अनुकूल रागादिभाव न हो तो वे उस समय उदयमें आए हुए द्रव्यकर्म नवीन बन्धके कारण नहीं होसकेंगे। आचार्यने यह भी झलकाया है कि आत्माकी सत्तामेंसे मिथ्यात्वादि चारोंके द्रव्यको निकाल देनेका उद्योग करना चाहिये। जब ये मूल प्रत्यय न रहेंगे तो इनके निमित्तसे होनेवाले

रागादिभाव भी न होंगे। इन कर्मोंकी स्थिति घटाने, अनुभाग घटाने व इनके बन्धका अभाव करने व इनकी निर्जरा करनेका एक मात्र उपाय शुद्ध आत्माकी ओर सन्मुखता है। जो आत्मध्यानी व स्वात्मानुभवी हैं वे ही कर्मोंकी जड़ उखाड़ते हुए कर्मोंसे विजय पाते हुए चले जाते हैं।

गाथामें यह भी बताया है कि जो द्रव्य प्रत्यय मिथ्यात्वादि बंधे पड़े हुए हैं उनके भी कारण रागादिभाव ही थे। रागादिभावोंसे ही उनका भी बंध हुआ था वे ही रागादिभाव नवीन द्रव्य-कर्मोंके भी बंधके कारण हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसतरह बने आत्मानुभवका पुरुषार्थ करना चाहिये। समयसारकलशामें श्रीअमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया।
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्॥
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्।
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥ २०॥

भावार्थ—जिस तरह होसके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताको प्राप्त होकर उस एकतासे न गिरती हुई व अनन्त चैतन्यके चिह्नरूप, तथा प्रगट प्रकाशमान आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योंकि स्वात्मानुभवके विना किसी भी तरह साधने योग्य कार्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती अर्थात् बंधसे छूटकर मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होसक्ती।

इस तरह नव पदार्थके कहनेवाले दूसरे महाअधिकारमें बंधके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा नवमा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

पीठिका—आगे शुद्धात्मानुभव रूप निर्विकल्प समाधिसे साधने योग्य व आगम भाषासे रागादि विकल्पोंसे रहित शुक्लध्यानसे साधने योग्य मोक्षके अधिकारमें गाथाएं चार हैं। उनमेंसे भाव मोक्ष, केवलज्ञानकी उत्पत्ति, जीवन्मुक्तपना तथा अरहंत पद इनका एक ही अर्थ है, इन चार नामोंसे युक्त एकदेश मोक्षके व्याख्यानकी मुख्यतासे "हेदु अभावे" इत्यादि सूत्र दो हैं। उसके पीछे अयोग केवलि गुणस्थानके अंतिम समयमें शेप अघाति द्रव्यकर्मोंसे मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए "दंसणणाणसमग्गं" इत्यादि सूत्र दो हैं। ऐसे चार गाथाओंके द्वारा दो स्थलोंमें मोक्षके अधिकारके व्याख्यानमें समुदायपातनिका है—

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५८॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वावाहं सुहमणंतं ॥ १५९ ॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणस्तु निरोधः ॥ १५८ ॥
कर्मणामभावे च सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।
प्राप्नोतीन्द्रियरहितमव्याबाधं सुखमनन्तं ॥ १५९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—( हेदुमभावे ) मिथ्यात्त्व आदि द्रव्य कर्मोंके उदय रूप कारणोंके न रहनेपर ( णियमा ) नियमसे (णाणिस्स) भेद विज्ञानी आत्माके (आसवणिरोधो) रागादि आस्रव भावोंका रुकना होता है। (आसवभावेण) रागादि आस्रव भावोंके विना (कम्मस्स) नवीन द्रव्य कर्मोंका (दु) भी (णिरोधो) रुकना हो जाता है। (य) तथा (कम्मस्स अभावेण) चार घातियाकर्मोंके नाश

होनेपर (सव्वण्हू) सर्वज्ञ (य) और (सव्वलोगदरसी) सर्व लोकको देखनेवाला (इंद्रियरहिदं) इंद्रियोंकी पराधीनतासे रहित (अव्वाबाहं) बाधा या विघ्न रहित व (अणंतं) अन्त रहित (सुहं) सुखको (पावदि) पा लेता है।

विशेषार्थ-भाव क्या है व उससे मोक्ष होना क्या है-इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं-कर्मोंके आवरणमें प्राप्त संसारी जीवका जो क्षयोपशमिक विकल्परूप भाव है वह अनादिकालसे मोहके उदयके वश रागद्वेष मोहरूप परिणमता हुआ अशुद्ध होरहा है यही भाव है। अब इस भावसे मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह जीव आगमकी भाषासे काल आदि लब्धिको प्राप्त करता है। तथा अध्यात्म भाषासे शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणामरूप स्वसंवेदन ज्ञानको पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम होनेपर फिर उनका क्षयोपशम होनेपर सराग सम्यग्दृष्टि होजाता है। तब अर्हत आदि पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदिके द्वारा परके आश्रित धर्मध्यानरूप बाहरी सहकारी कारणके द्वारा मैं अनंत ज्ञानादि स्वरूप हूं इत्यादि भावना स्वरूप आत्माके आश्रित धर्मध्यानको पाकर आगममें कहे हुए क्रमसे असंयत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर चार गुणस्थानोंके मध्यमेंसे किसी भी गुणस्थानमें दर्शनमोहको क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टी होजाता है। फिर मुनि अवस्थामें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदिसे भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमई ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यानका अनुभव करता है। फिर रागद्वेष रूप चारित्रमोहके उदयके अभाव होनेपर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप

वीतराग चारित्रको प्राप्त कर लेता है जो चारित्र मोहके नाश करनेमें समर्थ है। इस वीतराग चारित्रके द्वारा मोहकर्मका क्षय कर देता है-मोहके क्षयके पीछे क्षीण कषाय नाम बारहवें गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्त काल ठहर कर दूसरे शुक्लध्यानको ध्याता है। इस ध्यानसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, व अंतराय इन तीन घातिया कर्मोंको एक साथ इस गुणस्थानके अंतमें जड़ मूलसे दूरकर केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टयस्वरूप भाव-मोक्षको प्राप्त कर लेता है यह भाव है।"

भावार्थ-इन दो गाथाओंमें आचार्यने भाव-मोक्षका यह स्वरूप बताया है कि आत्मा अपने स्वभावमें होजावे अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, व अनंतसुखी व परम वीतराग होजावे-आत्माकी परमात्मा अवस्थाका नाम भाव मोक्ष है। जिस समय ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म आत्माकी सत्तासे बिलकुल छूट जाते हैं तब आत्माका निज स्वभाव प्रगट होजाता है। इस स्वभावकी प्रगटता उसी समय होती है जब आत्मस्वभावके घातक कर्म न तो कोई सत्तामें शेष रहें और न इनके नवीन बंधके कारण ही विद्यमान रहें-पहले कह चुके हैं कि मूल बंधके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय तथा योग हैं। यह आत्मा जब क्षायिकसम्यग्दृष्टी होजाता है तब मिथ्यादर्शनरूपी कारण बिलकुल सदाके लिये जाता रहता है। जब यह महाव्रती साधु होजाता है तब अविरतिरूप कारण भी नहीं रहता है, जब क्षीणकषायमें पहुंच जाता है तब कषाय भी नहीं रहता-मात्र योग अर्हंत परमात्माके तेरहवें गुणस्थानमें रहता है परंतु कषायके विना वह योग कर्मोंको खींचते

हुए भी उनको एक समयसे अधिक नहीं रोक सक्ता है। विना कषायके कर्मोंमें स्थिति ही नहीं पड़ती है। इसतरह इन कारणोंके अभाव होनेपर बंधके निमित्त कारण राग द्वेष मोहभाव आत्मामें नहीं होते हैं। आश्रवके रुक जानेपर व पिछले कर्म धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानकी अग्निसे भस्म होजाने पर यह महात्मा जीवन्मुक्त परमात्मा या भावमोक्षरूप होजाता है और तब आत्माधीन अतीन्द्रिय आनंदका भोग विना किसी विघ्न बाधाके अनंतकाल तक करता रहता है।

इस गाथामें आचार्यने अरहंत पदपर लक्ष्य दिलाया है। इस पदमें चार अघातिया कर्म—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र शेष रहजाते हैं इससे द्रव्य मोक्ष इनके भी दूर होनेपर होगी परन्तु भावोंमें विकार करनेवाले कर्मोंके नष्ट हो जानेपर भावमोक्ष तो होगई क्योंकि मूल संसारका कारण मोहनीय कर्म है, इसको तो इन्होंने पहले ही जड़मूलसे उखाड़ डाला है। अरहंतका स्वरूप आप्त स्वरूपमें कहा है—

> संसारःमोहनीयस्तु प्रोच्यतेऽत्र मनीषिभिः ।
> संसारिभ्यः परो ह्यात्मा परमात्मेति भाषितः ॥१८॥
> सर्वज्ञः सर्वतोभद्र सर्वदृग्वदनो विभुः ।
> सर्वभाषः सदा वन्द्यः सर्वसौख्यात्मको जिनः॥ १९॥
> रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटाः ।
> कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकोर्तितः ॥ २१ ॥
> येन दुःखार्णवे घोरे मग्नानां प्राणिनां दया—
> सौख्यमूलः कृतो धर्मः शंकरः परिकोर्तितः ॥ २६ ॥

भावार्थ—ज्ञानियोंने तो मोहनीय कर्मको ही संसार कहा है। इसके नाश करदेनेसे वे संसारियोंसे उत्कृष्ट आत्मा होगए हैं इसलिये

अरहंत भगवानको परमात्मा कहा गया है। वे सर्वके जाननेवाले, सर्व तरफ कल्याणरूप, चारों दिशाओंमें सुखका दर्शन देनेवाले, ज्ञानकी अपेक्षा सर्व व्यापक, जिनकी दिव्यध्वनि सर्व भाषारूप होजाती है, जो सदा वन्दनीक हैं, सर्व प्रकार सुखी है तथा कर्मोंके जीतनेवाले जिन हैं। जिसने रागद्वेषादिको व कर्मरूपी महा वीरोंको जीत लिया हो व जो कालचक्रसे अर्थात् संसारके भ्रमणसे छूट गया हो उसे ही जिन कहा गया है, उसी अरहंतको शंकर कहा गया है क्योंकि उसने भयानक दुःखरूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंके उद्धारार्थ ऐसा धर्म बताया है जो दया और सुखका मूल है। ऐसे भाव-मोक्षरूप अरहंत परमात्माको सदा ही ध्याना योग्य है। इस तरह भावमोक्षका स्वरूप कहते हुए दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका–आगे वेदनीय आदि शेष अघातिया कर्म चारके विनाशरूप जो सर्व द्रव्योंकी निर्जरा उसका कारण जो ध्यान है उसका स्वरूप कहते हैं—

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१६०॥

दर्शनज्ञानसमग्रं ध्यानं नो अन्यद्रव्यसंयुक्तं।
जायते निर्जराहेतुः स्वभावसहितस्य साधोः ॥ १६० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(सभावसहिदस्स) शुद्ध स्वभावके धारी (साधुस्स) साधुके (णिज्जरहेदू) निर्जराका कारण (झाणं) जो ध्यान (जायदि) पैदा होता है वह (दंसणणाणसमग्गं) दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण भरा है तथा (अण्णदव्वसंजुत्तं णो) वह अन्य द्रव्यसे मिला हुआ नहीं है।

विशेषार्थ–पूर्व गाथामें जिस भावमोक्षरूप केवलीभगवानका वर्णन किया गया है वे निर्विकार परमानंदमई अपने ही आत्मासे उत्पन्न सुखमें तृप्त हो जानेसे हर्ष विषाद रूप सांसारिक सुख तथा दुःखके विकारोंसे मुक्त हैं। केवलज्ञान व केवलदर्शनको रोकनेवाले आवरणोंके विनाशसे केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित हैं, सहज-शुद्ध चैतन्यभावमें परिणमन करनेसे तथा इंद्रियोंके व्यापार आदि बाहरी द्रव्योंके आलम्बनके न रहनेसे ये परद्रव्यके संयोग रहित हैं, अपने स्वरूपमें निश्चल होनेसे स्थिर चैतन्य स्वभावके धारी हैं, उनके ऐसे आत्मस्वभावको तथा ध्यानके फल स्वरूप पूर्व संचित कर्मोंकी स्थितिके विनाश और उनके गलनेको देखकर केवली भग-वानके उपचारसे ध्यान कहा गया है क्योंकि निर्जराका कारण ध्यान है और निर्जरा वहां पाई जाती है, यह अभिप्राय है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि केवली भगवानोंके जो यह पर-द्रव्योंके आलम्बन रहित ध्यान कहा है सो रहे क्योंकि केवलियोंके ध्यान उपचारसे ही कहा है परन्तु चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें यह कहा गया है कि छद्मस्थ अर्थात् असर्वज्ञ तपस्वी द्रव्य परमाणु या भाव परमाणुको ध्यायकर केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं वह ध्यान परद्रव्यके आलंबनसे रहित कैसे घटता है? आचार्य इसीका समा-धान करते हैं। द्रव्य परमाणु शब्दसे द्रव्यकी सूक्ष्मताको तथा भाव परमाणु शब्दसे भावकी सूक्ष्मताको लेना योग्य है, पुद्गल परमा-णुको लेना योग्य नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकी टिप्पणीमें यही व्याख्यान कहा गया है। यहां भी इस विवादमें पड़े वाक्यका वर्णन किया जाता है। यहां द्रव्य शब्दसे आत्म द्रव्य लेना योग्य है–तथा

परमाणुका अर्थ है रागद्वेषादिकी उपाधिसे रहित सूक्ष्म अवस्था–आत्मद्रव्यकी सूक्ष्मताका नाम द्रव्य परमाणु है। यहां सूक्ष्मावस्था इसीलिये ली गई है कि यह निर्विकल्प समाधिका विषय है। ऐसा द्रव्य परमाणु शब्दका व्याख्यान जानना। भाव शब्दसे उस ही आत्मद्रव्यका स्वसंवेदन ज्ञान परिणाम लेना योग्य है। इस भावका परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्म परिणाम सो भाव परमाणु है। इसमें सूक्ष्मपना इसीलिये है कि वह इंद्रिय और मनके विकल्पोंका विषय नहीं है। ऐसा भाव परमाणुका व्याख्यान जानना योग्य है।

यहां यह भाव है कि प्रथम अवस्थाके शिष्योंके लिये अपने चित्तको स्थिर करनेके लिये, तथा विषयाभिलाष रूप ध्यानसे बचनेके लिये परम्परा मुक्तिके कारण ऐसे पंचपरमेष्टी आदि परद्रव्य ध्यान करने योग्य होते हैं, परन्तु जब दृढ़तर ध्यानके अभ्याससे चित्त स्थिर होजाता है तब अपना शुद्ध आत्मस्वरूप ही ध्यान करनेके योग्य है। ऐसा ही श्री पूज्यपादस्वामीने निश्चय ध्येयका व्याख्यान किया है "आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन् सन् स्वयंभूः प्रवृत्तः" इस सूत्रका व्याख्यान यह है। जो आत्मा अपने ही आत्माको अपने ही आत्मामें, अपने ही आत्माके द्वारा क्षण मात्र भी–अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त भी प्रत्यक्ष रूपसे धारण करता है या अनुभव करता है, सो स्वयं सर्वज्ञ होजाता है।

इस तरह परस्पर अपेक्षा सहित निश्चय तथा व्यवहारनयसे साध्य व साधक भावको जानकर ध्येयके सम्बंधमें विवाद नहीं करना योग्य है।

भावार्थ–यहां यह कथन है कि सम्पूर्ण द्रव्य कर्मोंका क्षय

होना भी ध्यानसे ही होता है-अर्थात् द्रव्य मोक्षका भी कारण ध्यान है। केवली भगवान जो चार घातिया कर्म नाश कर चुके हैं और जिनको शेष चार अघातिया कर्म नाश करना शेप हैं-वास्तवमें ध्यानका कुछ उद्यम नहीं करते हैं-उनका जो कुछ शुद्ध स्वरूप होरहा है वह मानो ध्यान रूप ही है। इसीसे वहां ध्यान उपचार मात्र है क्योंकि वहां ध्यानका फल निर्जराका होना देखा जाता है इसीलिये वहां ध्यान मात्र उपचारसे कहा गया है। केवली महाराज अपने स्वभावमें ही विराजमान हैं, पूर्णज्ञान तथा दर्शनसे पूर्ण हैं, उनका यह स्वभाव ही निर्जराका कारण है। अरहंत भगवानमें आत्मस्वभावका रंचमात्र भी विक्षेप नहीं है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानमें सूक्ष्म योगोंका परिणमन व अयोग भावका होना व कर्मोंकी निर्जरा होना देखकर ही तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व चौथा व्युपरतक्रियानिर्वृत्ति शुक्लध्यान कहा गया है। वास्तवमें मुक्तिका उपाय स्वरूपमें रत होना है जैसा श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसारकलशामें कहा है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या।
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः॥
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां।
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥ ४/६॥

भावार्थ—जो भेद विज्ञान व स्वपरके विवेककी शक्तिसे अपने आत्माकी महिमामें रत हैं उनको अवश्य शुद्ध तत्त्वका लाभ होता है। इस शुद्ध तत्त्वका लाभ होजानेपर जो सर्व अन्य द्रव्योंसे निश्चलतासे दूर तिष्ठते हैं अर्थात् मात्र आप आपको ही ध्याते हैं उनको द्रव्यकर्मोंसे मुक्ति होजाती है।

उत्थानिका–आगे सर्वसे छूटना वही द्रव्यमोक्ष है ऐसा कहते हैं—

**जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।**
**ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥१६१॥**

यः संवरेण युक्तो निर्जरन्नथ सर्वकर्माणि ।
व्यपगतवेद्यायुष्को मुञ्चति भवं तेन स मोक्षः ॥ १६१ ॥

**अन्वय सहित सामान्यार्थ**–(जो) जो कोई (संवरेण जुत्तो) परम संवर सहित होता हुआ (अध) और (सव्वकम्माणिं) सर्व कर्मोंकी (णिज्जरमाणो) निर्जरा करता हुआ (ववगदवेदाउस्सो) वेद-नीय कर्म और आयुकर्मको क्षय करता हुआ (भवं) नाम और गोत्र कर्मसे बने संसारको (मुयदि) त्याग देता है (तेण) इस कारणसे (सो) वही जीव (मोक्खो) मोक्ष स्वरूप होजाता है अथवा अभेद नयसे वही पुरुष मोक्ष है ।

**विशेषार्थ**–तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान भावमोक्ष होजाने पर, निर्विकार स्वात्मानुभवसे साधने योग्य पूर्ण संवरको करते हुए तथा पूर्वमें कहे प्रमाण शुद्ध आत्मध्यानसे साधने योग्य चिरकालके संचित कर्मोंकी पूर्ण निर्जराका अनुभव करते हुए जब उनके जीवनमें अंतर्मुहूर्त शेष रह जाता है तब यदि वेदनीय, नाम, गोत्र इन तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्मकी स्थितिसे अधिक होती है तब उन तीन कर्मोंकी अधिक स्थितिको नाश करनेके लिये व संसारकी स्थितिको विनाश करनेके लिये दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण ऐसे चार रूपसे केवलीसमुद्घातको करके अथवा यदि उन तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्मके समान ही होती है तो केवलीसमुद्घात न

करके अपने शुद्ध आत्मामें निश्चल वर्तनरूप सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम तीसरे शुक्लध्यानको उपचारसे करते हैं। फिर सयोगिगुणस्थानको उल्लंघ कर अयोगिगुणस्थानमें आते हैं। यहां सर्व आत्माके प्रदेशोंमें आल्हादरूप एक आकारमें परिणमन करते हुए परम समरसी भावरूप सुखामृतरसके आस्वादसे तृप्त, सर्व शील और गुणके भण्डार समुच्छिन्नक्रिया चौथे शुक्लध्यान नामके परम यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करते हैं। फिर इस गुणस्थानके अंतिम दो समयमेंसे पहले समयमें शरीरादि बहत्तर प्रकृतियोंका व अन्त समयमें वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र इन चार कर्मोंकी तेरह प्रकृतियोंका जीवसे अत्यन्त वियोग होजाता है इसहीको द्रव्य मोक्ष कहते हैं। सब कर्मोंसे अलग होनेपर सिद्ध आत्मा एक समयमें लोकके अग्रभागमें जाकर विराजमान होजाते हैं। शरीरोंसे छूटनेपर सिद्ध आत्माकी गति घुमाए हुए कुम्हारके चाककी तरह पूर्वके प्रयोगसे, लेपसे रहित तुम्बीकी तरह कर्मोंकी संगति छूटनेसे, एरंडके बीजकी तरह बन्धके टूटनेसे व अग्निकी शिखाकी तरह ऊर्ध्वगमन स्वभावसे ऊपरको होती है। वे सिद्ध भगवान लोकके आगे गमनमें कारणभूत धर्मास्तिकायके न होनेसे नहीं जाते हैं–लोकाग्रमें तिष्ठे हुए इंद्रियके विषयोंसे अतीत अविनाशी परमसुखको अनंत कालतक भोगते रहते हैं।

भावार्थ–इस गाथामें श्री कुन्दकुन्द महाराजने द्रव्यमोक्षका स्वरूप बताया है। आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाका रहजाना ही मोक्ष है, तब आत्माके प्रदेशोंमें किसी भी जातिकी पुद्गलवर्गणाका सम्बन्ध नहीं होता है–शुद्ध स्फटिकके समान व निर्मलजलके समान व शुद्ध रुईके वस्त्रके समान आत्मा पूर्ण स्वच्छ होजाता है। मोक्ष

होनेपर आत्मा स्वभावसे सीधा ऊपर जहांतक गमन सहकारी धर्म-द्रव्य है वहांतक जाकर लोकके अग्रभागके तनुवातवलयमें पूर्व शरीरके आकार ठहर जाता है। कर्मबंधका सम्बंध न रहनेसे कोई विकारी भाव या इच्छा या सांसारिक सुख दुःख सिद्ध आत्मामें नहीं होते हैं। वे पूर्ण ज्ञानघन व परम वीतराग रहते हुए निरंतर आत्मीक अनुभवमें लवलीन रहते हैं और स्वाभाविक सुखका भोग करते हैं। इस ही सिद्ध आत्माको निकल परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, परमपवित्र, परमध्येय, परम आदर्श व परमगुरु कहते हैं। सिद्ध आत्मा अपनी सत्ताको अन्य सिद्धोंसे भिन्न रखते हैं-किसीमें मिल नहीं जाते हैं। जैसे वे अनादिसे अन्य आत्माओंसे भिन्न थे वैसे वे अनंत कालतक भिन्न रहते हैं। इस भगवान प्रभुको अब कोई प्रकारकी वाधा नहीं होती है-संसारकी सर्व आकुलताएं मिट जाती हैं। मोक्ष प्राप्त आत्माका स्वरूप तत्त्वसारमें कहा है—

तिहुअणपुज्जो होउं खविओ सेसाणि कम्मजालाणि।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥ ६७ ॥
गमणागमणविहीणो फंदणचलणेहि विरहिओ सिद्धो।
अव्वावाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहि संजुत्तो ॥ ६८ ॥
लोयालोयं सव्वं जाणइ पिच्छेइ करणकमरहियं।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥ ६९ ॥

भावार्थ-तीन भुवनमें पूजनीय अरहंत भगवान होकर फिर शेष कर्मके जालोंको क्षयकर जैसा पहले कभी नहीं हुआ था ऐसा सिद्ध होजाता है और लोकके अग्रभागमें निवास करता है-वे सिद्ध भगवान आवागमन नहीं करते, हलन चलन नहीं करते, उत्कृष्ट आठगुण सहित होकर निरावाध सुखमें तिष्ठते हैं। वे सिद्ध

भगवान विना किसीकी सहायताके तथा विना किसी क्रमके सर्व-लोक अलोकको व अनंतगुण पर्याय सहित सर्व मूर्तीक तथा अमूर्तीक द्रव्योंको जानते देखते हैं। द्रव्यमोक्ष वास्तवमें आत्माके निज स्वरूपका विकास है। इसीलिये ग्रहण करने योग्य है।

इसतरह द्रव्यमोक्षका स्वरूप दो सूत्रोंसे कहा गया। भाव-मोक्ष व द्रव्यमोक्षके कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंमें दो स्थलोंके द्वारा दशवां अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

इसप्रकार इस तात्पर्यवृत्तिमें पहले ही "अभिवंदिऊण सिरसा" इस गाथाको आदि लेकर चार गाथाएं व्यवहारमोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे हैं फिर सोलह गाथाओंमें जीव पदार्थका व्याख्यान है। फिर चार गाथाएं अजीव पदार्थके निरूपणमें हैं। फिर तीन गाथाओंमें पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी पीठिकाकी सूचना है। फिर चार गाथाएं पुण्यपाप दो पदार्थोंके वर्णनके लिये तथा छः गाथाएं शुभ व अशुभ आस्रवके व्याख्यानके लिये हैं। पश्चात् तीन सूत्र संवर पदार्थके स्वरूप कथनके लिये फिर तीन गाथाएं निर्जरा पदार्थके व्याख्यानमें फिर तीन सूत्र वंध पदार्थके कहनेके लिये, पश्चात् चार सूत्र मोक्षपदार्थके व्याख्यान करनेके लिये हैं। इसतरह दश अंतर अधिकारोंके द्वारा पचास गाथाओंमें मोक्षमार्गके अंगरूप तथा दर्शन और ज्ञानके विषयरूप जीवादि नव पदार्थोंका कथन है। इस तरह इस कथनको प्रतिपादन करनेवाला दूसरा महा अधिकार समाप्त हुआ।

पीठिका—इसके आगे मोक्षप्राप्तिके मुख्य कारण निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गमई चूलिका रूप विशेष व्याख्यानमें तीसरा महा अधिकार है। जिसमें "जीवसहाओ णाणं" इत्यादि वीस गाथाएं

हैं । इन बीस गाथाओंके मध्यमें केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव शुद्ध जीवका स्वरूप कथन करते हुए जीवके स्वभावमें स्थिरतारूप चारित्र है सो ही मोक्षमार्ग है, ऐसा कहते हुए "जीवसहाओ णाणं" "इत्यादि प्रथम स्थलमें सूत्र एक, फिर शुद्धात्माके आश्रित स्वसमय है तथा मिथ्यात्त्व व रागादि विभाव परिणामोंके आश्रित पर समय है ऐसा कहते हुए "जीवसहाव णिवदो" इत्यादि सूत्र एक है। फिर शुद्धात्माके श्रद्धान आदि रूप स्वसमय है उससे विलक्षण पर समय है उसीका ही विशेष वर्णन करनेकी मुख्यतासे "जो परदव्वेहिं" इत्यादि गाथा दो हैं, पश्चात् रागादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदन स्वरूप स्वसमयका ही फिर भी विशेष खुलासा करनेकी मुख्यतासे "जो सव्वसंग" इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए छः द्रव्यादिके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व पंच महाव्रत आदि चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्गके निरूपणकी मुख्यतासे "धम्मादी सद्दहणं" इत्यादि पांचवें स्थलमें सूत्र एक है। फिर व्यवहार रत्नत्रय द्वारा साधने योग्य अभेद रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्गको कहते हुए "णिच्छयणयेण" इत्यादि गाथाएं दो हैं। फिर जिसको शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न अतींद्रिय सुख ही ग्रहण करनेयोग्य मालूम होता है वह ही भाव सम्यग्दृष्टी है। इस व्याख्यानकी मुख्यतासे "जेण विजाण" इत्यादि सूत्र एक है। आगे निश्चय रत्नत्रयमई मार्गसे मोक्ष तथा व्यवहार रत्नत्रयमई मार्गसे पुण्यबंध होता है इस कथनकी मुख्यतासे "दंसणणाणचरित्ताणि" इत्यादि आठवें स्थलमें सूत्र एक है। आगे निर्विकल्प परमसमाधि स्वरूप सामायिक नाम संयममें ठह-

रनेको समर्थ होनेपर भी जो उसको छोड़कर एकान्तसे सराग चारित्रके आचरण करनेको मोक्षका कारण मानता है वह तब स्थूल परसमय कहलाता है तथा जो उस समाधिरूप सामायिक संयममें तिष्ठना चाहकर भी उसके योग्य सामग्रीको न पाकर अशुभसे बचनेके लिये शुभोपयोगका आश्रय करता है वह सूक्ष्म परसमय कहा जाता है, इस व्याख्यानरूपसे "अण्णाणादो णाणी" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। फिर तीर्थंकर आदिके पुण्ण च जीव आदि नव पदार्थके कहनेवाले आगमका ज्ञान प्राप्त करनेसे व उसमें भक्ति करनेसे यद्यपि उस कालमें पुण्याश्रव रूप परिणाम होनेसे मोक्ष नहीं होती है तथापि उसीके आधारसे कालांतरमें आस्रव रहित शुद्धोपयोग परिणामकी सामग्री प्राप्त होनेपर मोक्ष होती है इस कथनकी मुख्यतासे "सपदत्थं" इत्यादि दो सूत्र हैं। फिर इस पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्रका तात्पर्य साक्षात् मोक्षका कारणरूप वीतरागता ही है, इस व्याख्यानको कहते हुए "तम्हा णिव्वुदिकामो" इत्यादि एक सूत्र है। पश्चात् संकोच करते हुए शास्त्रको पूर्ण करनेके लिये "मग्गप्पभावणट्ठं" इत्यादि गाथा सूत्र एक है। इस तरह बारह स्थलोंके द्वारा मोक्षमार्गका विशेष व्याख्यान करनेके लिये तीसरे महाअधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका–आगे गाथाके पहले आधे भागसे जीवका स्वभाव व दूसरे आधे भागसे जीव स्वभावमें स्थिरतारूप चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा कहते हैं–

जीवसहाओ णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥१६२॥

जीवस्वभावं ज्ञानमप्रतिहतदर्शनमनन्दमयः ।
चारित्रं च तयोर्नियतमस्तित्वमनिन्दितं भणितं ॥ १६२ ॥

**अन्वय सहित सामान्यार्थ**–(जीवसहाओ) जीवका स्वभाव (अप्पडिहद) अखंडित (णाणं) ज्ञान तथा (दंसणं) दर्शन है ये दोनों (अणण्णमयं) जीवसे भिन्न नहीं हैं (च) और (तेसु) इन दोनों अखण्ड ज्ञानदर्शनमें (णियदं) निश्चल रूपसे (अत्थित्तम्) रहना सो (आणंदियं) रागादि दोषोंसे रहित वीतराग (चरियं) चारित्र (भणियं) कहा गया है। यही चारित्र मोक्षमार्ग है।

**विशेषार्थ**–इस गाथाका दूसरा अर्थ यह है कि जैसे केवलज्ञान व केवलदर्शन जीवका स्वभाव है वैसे अपने स्वरूपमें स्थितिरूप वीतराग चारित्र भी जीवका स्वभाव है। सर्व वस्तुओंमें प्राप्त अनंत स्वभावोंको एक साथ विशेष रूप जाननेको समर्थ केवलज्ञान है तथा उनहीके सामान्य स्वरूपको एक साथ ग्रहण करनेको समर्थ केवलदर्शन है-ये दोनों ही जीवके स्वभाव हैं। यद्यपि ये दोनों ज्ञान दर्शन स्वाभाविक शुद्ध सामान्य विशेष रूप चैतन्यमई जीवकी सत्तासे संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेदरूप हैं तथापि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अभेद हैं व तैसे ही पूर्वमें कहे हुए जीव स्वभावसे अभिन्न यह चारित्र है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है–इंद्रियोंका व्यापार न होनेसे विकार रहित व निर्दोष है। तथा जीवके स्वभावमें निश्चल स्थितिरूप है क्योंकि कहा है "स्वरूपे चरणं चारित्रम्" अर्थात आत्मभावमें तन्मय होना चारित्र है। यह चारित्र दो प्रकारका है–एक परचरित, दूसरा स्वचरित। परचरित वह है कि जो स्वयं

नहीं आचरण करके भी दूसरोंके द्वारा अनुभव किये हुए मनोज्ञ काम भोगोंका स्मरणरूप अपध्यान करना तथा आत्मभावसे विपरीत अन्य परभवोंमें आचरण करना। इससे विपरीत अपने स्वरूपमें आचरण करना स्वचरित है। यही वास्तवमें चारित्र है, यही परमार्थ शब्दसे कहने योग्य मोक्षका कारण है–अन्य कोई कारण नहीं है। इस मोक्षमार्गको न जानकर हम लोगोंका भी अनंतकाल मोक्षसे भिन्न अनादि संसारके कारणरूप मिथ्यादर्शन तथा रागादि भावोंमें लीन होते हुए चला गया। ऐसा जानकर अब उस जीवके स्वभावमें निश्चल स्थितिरूप चारित्रकी ही भावना करनी योग्य है जो साक्षात् मोक्षका कारण है। जैसा कहा है–

"एमेवगओ कालो असारसंसारकारणइयाणं।
परमट्ठकारणाणं कारण ण हु जाणियं किं पि॥"

भावार्थ–इसी तरह योंही अनंतकाल उनका वीत गया जो संसारके कारणरूप भावोंमें लवलीन हैं क्योंकि उन्होंने मोक्षके कारणोंके साधनेको कुछ भी नहीं जाना।

भावार्थ–इस गाथामें मुख्यतासे आचार्यने मोक्षका स्वरूप बताया है जैसा वृत्तिकारने स्पष्ट किया है। वास्तवमें जैन सिद्धांतने मोक्ष आत्माके निज स्वभावको ही माना है। आत्माका स्वभाव अनंतज्ञान व अनंतदर्शनमई तथा परम वीतराग चारित्ररूप निश्चल और निष्कंप है। आत्मा सामान्य विशेषरूप अनेक स्वभावोंको पीये हुए एकाकाररूप परद्रव्यके असरसे विभाव परिणतिमें न परिणमता हुआ मात्र अपने ही शुद्ध निर्विकार स्वभावमें तिष्ठता है। यही इस आत्माका स्वभाव है व यही मोक्षतत्व है। मोक्षमार्ग भी यही है

कि जब कोई सम्यग्ज्ञानी आत्मा सर्व परभावोंको रोककर अपने ही आत्माके शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमें स्थिर होकर स्वानुभव करता है तब ही वह अभेद रत्नत्रयमयी निश्चय मोक्षमार्गको पाता है। वास्तवमें जैसा साध्य होता है वैसा ही उसका साधन होता है। जैसा आत्माका स्वभाव प्राप्त करना है वैसे ही आत्म स्वभावका अनुभव ही साधन है-जैसा समयसारकलशामें स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथक् वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्॥
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः।
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२-१०॥

भावार्थ-आदि मध्य अन्तके विभागसे रहित स्वभावमें प्रकाशमान यह शुद्ध ज्ञान पुंज आत्मा नित्य उदय होता हुआ अपने यथार्थ निर्मल ज्ञानको ग्रहण त्यागके विकल्पसे रहित, अन्य पदार्थोंसे भिन्न, अपनी भिन्न वस्तुपनेको रखता हुआ आत्मामें ही निश्चल धारण करता है अर्थात् स्वानुभूतिमें रमण करनेवाला ही आत्मा मोक्षका साधक होता है।

इस तरह जीवके स्वभावको कह करके जीवके स्वभावमें निश्चल ठहरना ही मोक्षमार्ग है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थलमें गाथा कही।

उत्थानिका-आगे ऐसा कहते हैं कि अपने आत्माकी उपादान शक्तिसे कार्योंका क्षय होता है इसलिये जीवके स्वभावमें निश्चलतासे आचरण करना ही मोक्षमार्ग है।

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओथ परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१६३॥

जीवः स्वभावनियतः अनियतगुणपर्यायोऽथ परसमयः ।
यदि कुरुते स्वकं समयं प्रभ्रस्यति कर्मबन्धात् ॥ १६२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवो) यह जीव (सहावणियदो) निश्चयसे स्वभावमें तिष्ठनेवाला है ( अथ ) तथापि व्यवहारनयसे ( अणियदगुणपज्जओ ) अपने स्वभावसे विपरीत गुण व पर्यायोंमें परिणमन करता हुआ ( परसमओ ) पर समय या पर पदार्थमें रत होजाता है। (जदि) यदि वही जीव (सगं समयं) अपने आत्मीक आचरणको (कुणदि) करे तो (कम्मबंधादो) कर्मोंकेबन्धनसे (पब्भस्सदि) छूट जाता है।

विशेषार्थ-यह जीव शुद्ध निश्चयनयसे विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावका धारी है परन्तु व्यवहारनयसे मोह रहित शुद्धात्माकी प्राप्तिसे विपरीत अनादिकालसे मोहकर्मके उदयके वशसे मतिज्ञान आदि विभाव गुण व नर नारक आदि विभाव पर्यायोंमें परिणमन करता हुआ पर समय अर्थात् पर पदार्थोंमें रत होता हुआ पर चरितवान होरहा है। जब यह जीव निर्मल विवेक ज्योतिसे उत्पन्न परमात्माकी अनुभूतिरूप आत्माकी भावना करता है तब स्वसमय रूप आत्माके चारित्रमें चलनेवाला या रत होनेवाला होता है। इस तरह स्वसमयका व पर समयका स्वरूप जानकर जो कोई जब निर्विकार स्वसंवेदन रूप स्वसमयमें लीन होता है तब वह केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोंकी प्रगटतारूप मोक्षसे विपरीत जो बंध है उससे छूट जाता है। इससे यह जाना जाता है कि स्वानुभव लक्षण स्वसमयरूप या जीवके स्वभावमें निश्चल चारित्ररूप ही मोक्षमार्ग है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने दिखाया है कि वास्तवमें यह

जीव अपने शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमई स्वभावमें रहनेवाला है तथापि अनादिकालसे अपने स्वरूपको नहीं जानता हुआ कर्मोंके उदयसे जो विभाव अवस्थाएं होती हैं उनमें अपनापना माने हुए आत्माके स्वभावमें रमण करनेसे छूटा हुआ कर्मोंसे पैदा होनेवाली नानाप्रकारकी अवस्थाओंमें तन्मय होकर उनहीके अनुकूल आचरण करता हुआ परसमयरूप होरहा है। यही जीव जब पर कृत अव-स्थाओंको अपना स्वभाव न जाने तथा अपने शुद्ध स्वभावको अपना जानकर उसके रमणमें उत्साही होकर रमण करे तब वह स्वसमय रूप होता हुआ वीतरागताको बढ़ाता हुआ, कर्मके बन्धनोंसे छूटता हुआ चला जाता है।

सम्यग्दृष्टी जीव जो संयमी नहीं है तथा अणुव्रती है व प्रमत्तगुणस्थानवर्ती साधु है वह स्वात्मानुभवके कालके सिवाय यद्यपि आत्माके स्वभावमें नहीं रमण करता हुआ लौकिक व्यवहार व धार्मिक व्यवहारमें अपना उपयोग लगा रहा है तथा चारित्रकी अपेक्षा स्वसमय रत नहीं है तथापि श्रद्धान व ज्ञानकी अपेक्षा वह परसमय रत नहीं है—वह भलेप्रकार जानता है व श्रद्धान रखता है कि आत्माका हित स्वभावमें रमण करना ही है तथा उसके उप-योगका आत्माकी भूमिकाको छोड़कर अन्यमें जाना उसके कषायके उदयका कार्य है। मिथ्यादृष्टी भेदज्ञानसे रहित होता हुआ तथा आत्मीक आनंदके स्वादको नहीं पहिचानता हुआ श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र तीनोंमें ही परसमय रूप है। उसका सम्पूर्ण वर्तन अनात्माकी भूमिमें होरहा है। अतएव गाढ़ कर्मके बंधनोंसे बंधता है, जब कि सराग सम्यग्दृष्टी बहुत अल्प व वीतराग सम्यग्दृष्टी

और भी अल्प बंधको करता है, जब कषाय रहित होकर क्षीणमोह गुणस्थानमें शुद्धोपयोगी होजाता है तब तुर्त घातिया कर्मोका क्षयकर भाव मोक्ष रूप अरहंत परमात्मा होजाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थमें रमणसे जो आत्माकी दुर्दशा होचुकी है उसको ध्यानमें लेकर एक ज्ञानी जीवको अपने ही शुद्ध स्वभावमें रमण करनेका उद्यम करना योग्य है।

श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्त्व सप्ततिमें कहा है—

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः।<br>
रमणीयेषु सर्वेषु, तदेकं परमं स्थितं ॥४३॥<br>
तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदं।<br>
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥ ४४ ॥

शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि तदेवैकं सतां मतं।<br>
योगिनां योगनिष्टा हि तदेवैकं प्रयोजनं ॥ ४५ ॥<br>
मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः।<br>
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥ ४६ ॥

संसारघोरधर्म्मेण सदा तप्तस्य देहिनः।<br>
यत्र धारा गृहं शांतं तदेव हिमशीतलं ॥ ४७ ॥<br>
तदेवैकं परं दुर्ग-मगम्यं कर्म्मविद्विषां।<br>
तदेव तत्तिरस्कारकारि सारं निजं बलं ॥<br>
तदेव महती विद्या स्फुरन्मंत्रस्तदेव हि।<br>
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनं ॥ ४९ ॥

भावार्थ—सर्व शास्त्रसमुद्रका एक आत्मतत्व ही उत्तम रत्न है। सर्व ही सुन्दर पदार्थोंमें वही एक सर्वोत्कृष्ट है, वही एक परम तत्व है, वही एक उत्तम पद है, भव्योंसे वही एक आराधने योग्य है, वही एक परम ज्योति है, संसाररूपी वृक्षको

छेदनेवाला वही एक शस्त्र है, ऐसा साधुओंको मान्य है; योगियोंके योगकी स्थिरता उसीमें है, वही एक योगियोंका प्रयोजन है। मोक्षके चाहने वालोंके लिये वही एक मुक्तिका मार्ग है अन्य नहीं, उस तत्त्वको छोड़कर अन्य कहीं भी आनन्द नहीं झलकता है। वही एक उत्कृष्ट किला है जहां कर्मशत्रुओंका गमन नहीं होता है। यही तत्त्व कर्मोंकी सेनाका तिरस्कार करनेवाला है। यही एक बड़ी विद्या है, यही एक उत्तम मंत्र है तथा यही एक श्रेष्ठ औषधि है जो संसारके रोगोंको नाश करनेवाली है।

इसतरह स्वसमय और परसमयके भेदकी सूचना करते हुए गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे पर समयमें परिणमन करते हुए पुरुषका स्वरूप फिर भी प्रगट करते हैं—

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो॥ १६४॥

यः परद्रव्ये शुभमशुभं रागेण कुणदि यदि भावं।
स स्वकचरित्रभ्रष्टः परचरितचरो भवति जीवः॥ १६४॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) जब (जो) जो कोई (रागेण) रागभावसे (परदव्वम्मि) आत्माके सिवाय परद्रव्यमें (सुहं असुहं भावं) शुभ या अशुभ भावको (कुणदि) करता है (सो) तब वह (जीवो) जीव (सगचरित्तभट्ठो) आत्मीक चारित्रसे भ्रष्ट होकर (परचरियचरो) पर चरितमें चलनेवाला (हवदि) होजाता है।

विशेषार्थ—जो कोई शुद्ध गुण और पर्यायोंमें परिणमनेवाले अपने शुद्ध आत्मद्रव्यसे भ्रष्ट होकर निर्मल आत्मतत्त्वसे विपरीत

रागभावसे परिणमन करके शुभ और अशुभ द्रव्योंमें उदासीनतारूप शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्व परद्रव्योंके सम्बन्धमें शुभ या अशुभ भाव करता है सो ज्ञानानंदमई एक स्वभावरूप आत्माके तत्त्वमें चलने-रूप अपने ही चारित्रसे भ्रष्ट होकर स्वसंवेदनमें रमण क्रियासे विलक्षण परचारित्रमें चलनेवाला होजाता है, यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें भी यही भाव है कि जो आत्मतत्त्वमें सन्मुख नहीं है, वह परम आचरण करनेवाला है। चारित्रकी अपेक्षा शुद्धोपयोग ही स्वचारित्र है–जो शुद्धोपयोगरूप आत्माके अनुभवसे हटकर अन्य पदार्थोंमें राग या द्वेष करता है वह परमें आचरण करनेवाला अशुद्धोपयोगी है। अविरत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा जो शुद्धात्माको पहिचानकर व श्रद्धानकर स्वरूपाचरण चारित्रमें लीन है व स्वरूपमें रमण करनेकी शक्ति प्राप्त कर चुका है वह स्वचरित है तथा जो आत्माके ज्ञान श्रद्धानसे रहित मिथ्यादृष्टी अनात्मज्ञानी बहिरात्मा है सो परचरित है।

वास्तवमें परमानन्दका स्थान अपना ही आत्माका अनुभव है इसलिये जो अपना हित चाहते हैं उनको उचित है कि सर्व विकल्पोंसे मुंह मोड़कर एक शुद्धात्माका ही अनुभव प्राप्त करें। इसीसे स्व-चारित्रकी प्राप्ति होगी। श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं–

येऽभ्यासयंति कथयंति विचारयंति।
संभावयंति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वं ॥
ते मोक्षमक्षयमनूनमनंतसौख्यं।
क्षिप्रं प्रयांति नवकेवललब्धिरूपं ॥ ८० ॥

भावार्थ–जो कोई आत्मतत्त्वका अभ्यास करते हैं, उसीका कथन करते हैं, उसीका विचार करते हैं, तथा वारवार उसहीकी

भावना करते हैं वे शीघ्र अनंतज्ञानादि नव क्षायिकलब्धिरूप, अविनाशी, महान् व अनंत सुखरूप मोक्षको शीघ्र पहुंच जाते हैं।

उत्थानिका-आगे ऐसा कहते हैं कि जो परमें आचरण करते हैं उन पुरुषोंको बंध देखा जाता है-उनके मोक्ष नहीं होसक्ती है। अथवा उस ही पूर्वमें कहे हुए परसमयके स्वरूपको प्राचीन मतको कहते हुए दृढ़ करते हैं—

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण।
सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परूवंति ॥१६५॥

आस्रवति येन पुण्यं पापं चात्मनोऽथ भावेन।
स तेन परचरित्रः भवतीति जिनाः प्ररूपयन्ति ॥ १६५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( अध ) तथा ( जेण ) जिस (अप्पणो भावेण) आत्माके भावसे (पुण्णं) पुण्य (वा) या (पावं) पाप ( आसवदि ) आता है (तेण) तिस भावके कारण ( सो ) यह जीव (परचरित्तो) परमें आचरण करनेवाला (हवदित्ति) होजाता है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्र (परूवंति) कहते हैं।

विशेषार्थ-आस्रव रहित परमात्म-तत्वसे विपरीत भावके द्वारा परिणमन करके जब यह जीव पुण्य या पापका आस्रव करता है तब निरास्रव परमात्माके स्वभावसे छूटा हुआ शुद्धात्माके अनुभवमें आचरणरूप आत्माके चारित्रसे भ्रष्ट होकर परमें आचरण करनेवाला होजाता है इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस भावसे पापादिका आस्रव होता है उस भावसे मोक्ष नहीं होसक्ता।

भावार्थ-यहां श्रद्धानकी अपेक्षा गाथाका भाव लिया जावे तब तो यह अर्थ निकलता है कि जिसने शुद्धात्मानुभूतिकी लब्धि सम्य-

ग्दर्शन न होते हुए नहीं प्राप्त की है वह . संसारमें अनन्तानुवन्धी कषाय तथा मिथ्यादर्शनके आधीन हो संसारमें अत्यन्त मोही होता हुआ इष्ट पदार्थोंसे राग तथा अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष करता है इससे निरंतर पापका आस्रव करता है व कभी सुखके लोभसे दान, पूजा, जप, तपादि मंद कषायसे करता है तब पुण्यका भी आस्रव करता है, परन्तु इन तीव्र या मन्दकषाय रूप भावोंमें मिथ्यात्त्व व अनंतानुवंधी कषायकी मलीनता होती है। इससे ये सब भाव संसारके बढ़ानेवाले हैं–मोक्षके कारण कभी हो नहीं सक्के तथा यदि मात्र चारित्रकी अपेक्षा गाथाके अर्थपर विचार करें तो ऐसा भाव झलकता है कि एक शुद्धोपयोग रूप स्वात्मानुभव ही मोक्षका कारण है अर्थात् कर्मबंधका जलानेवाला है। जब बुद्धिपूर्वक ध्याताके भावमें समभाव है, वीतरागता है, निर्विकल्पसमाधि है तब ही ध्यान है। न उस समय मुनिके महाव्रतादि व्यवहारचारित्रका विकल्प है न श्रावकके बारह व्रत, देवपूजा आदि षट्कर्मका विकल्प है–अर्थात् बुद्धिपूर्वक ध्याताके भावमें न शुभोपयोग है न अशुभोपयोग है। सम्यग्दृष्टी भलेप्रकार जानता है कि जितने अंश परिणामोंमें वीतरागता रहेगी और वह निश्चय रत्नत्रय गर्भित होगी उतने अंश ही कर्मकी निर्जरा होगी व जितने अंश सरागता रहेगी उतने अंश कर्मोंका आस्रव तथा वन्ध होगा इसलिये ज्ञानी जीव जब शुद्धात्मानुभवसे छूटकर शुभ वा अशुभ कार्योंमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति कर रहा है तब वह चारित्रकी अपेक्षा स्वसमय रूप व आपमें आप आचरनेवाला स्वचरित रूप नहीं है किन्तु आत्म-भूमिकाको छोड़कर परमें रत होनेके कारणसे परमें आचरण करनेवाला परच-

रितवान है ऐसा दो प्रकारका भाव गाथासे झलकता है । तात्पर्य यही है कि जिस तरह बने शुद्धोपयोगमई स्वात्मानुभवके सन्मुख रहना ही आत्माका सच्चा हित है ।

श्री पद्मनंदिमुनिने सद्बोधचंद्रोदयमें कहा है—

बोधिरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं, मोक्षहेतुरिति योगिनिश्चयः ॥२५॥
आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं, स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदंतरं ॥२८॥

भावार्थ—मोक्षका कारण यही ज्ञानरूप तत्व है जो सब उपाधियोंसे रहित है । जो कुछ है वही है, उसके समान कोई भी तत्त्व नहीं ऐसा ही योगियोंको निश्चय है। आत्मज्ञान रूपी पवित्र व आश्चर्यकारी तीर्थ है—हे बुद्धिवानों ! इसीमें उत्तम स्नान करो । जो अंतरंगका मैल अन्य करोड़ों तीर्थोंसे नहीं धुल सक्ता है उस मैलको यह तीर्थ अवश्य धो देता है ।

इस प्रकार विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमई शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव रूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उससे विलक्षण पर समयका विशेष वर्णन करते हुई दो गाथाएं पूर्ण हुई ।

उत्थानिका—आगे स्वचरितमें प्रवर्तन करनेवाले पुरुषका स्वरूप विशेष करके कहते हैं—

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो॥१६६॥

यः सर्वसंगमुक्तः अनन्यमनः आत्मानं स्वभावेन ।
जानाति पश्यति नियतं सः स्वकचरितं चरति जीवः ॥१६६॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जो) जो ( सव्वसंगमुक्को ) सर्व

परिग्रहसे रहित होकर ( णण्णमणो ) एकाग्र मन होता हुआ (अप्पणं) आत्माको ( सहावेण ) स्वभाव रूपसे ( णियदं ) निश्चल होकर (जानदि) जानता है (पस्सदि) देखता है (सो) वह (जीवो) जीव (सगचरियं) स्वचरित को (चरदि) आचरण करता है।

विशेषार्थ—जो तीन लोककी व तीन कालकी सर्व बाहरी व भीतरी परिग्रहको मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदनासे त्यागता हुआ भी परिग्रहरहित परमात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले सुंदर आनंदसे भरे हुए परमानंदमई सुख रूपी अमृतके स्वादसे पूर्ण कलशकी तरह सर्व आत्माके प्रदेशोंमें भरा हुआ है और कपोतलेश्याको आदि लेकर देखे, सुने व अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छाको आदि लेकर सर्व परभावोंसे पैदा होनेवाले विकल्प जालोंसे रहित है तथा अपने आत्माकी निर्विकार चैतन्यके चमत्कारसे प्रकाशरूप निश्चलपने ऐसा जानता है कि यह आप और परको जाननेवाला है व उसी ही आत्माको विकल्प रहित होकर देखता है अर्थात् अनुभव करता है वही जीव अपने शुद्ध आत्माके अनुभवरूप आचरणका व परमागमकी भाषासे वीतराग परम सामायिक नामके आत्मीक चारित्रका अनुभव करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वरूप जीवके स्वभावमें निश्चलतासे ठहरना सोई मोक्षमार्ग है।

भावार्थ—इस गाथामें भी आचार्यने इसी बातको दृढ़ किया है कि जो सर्व आत्मासे भिन्न चेतन व अचेतन पदार्थोंसे ममता छोड़ देता है यहांतक कि धन, धान्य, घर, स्त्री, पुत्र, मित्र, वस्त्र, अलंकार आदि पदार्थोंका सम्बन्ध भी नहीं रखता है जो ममता व

इच्छा या विकार या विकल्पके पैदा करानेमें कारण हैं-अर्थात् जो दिगम्बर साधु होजाता है और एकांतमें बैठता है जहां मनको क्षोभित करनेवाले कारण न हों-पर्वतकी गुफा, उपवन, नदी तट आदि निर्जन स्थलोंमें तिष्टता है और तब अन्य आत्माकी अशुद्ध अवस्थाओंको छोड़कर मात्र उसके शुद्ध वीतराग ज्ञान दर्शनमई स्वभावको ध्याता है-ध्याते २ जब आप अपने स्वभावमें ऐसा तन्मय होजाता है कि अपना उपयोग आपको छोड़कर अन्य कहां नहीं जाता है-अर्थात् आप आपमें डूब जाता है तब वह महात्मा साधु अपने आत्मामें ही आचरण करनेवाला स्वचारित्र-वान कहलाता है-निश्चयनयसे यही मोक्षमार्ग है जहां श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्रकी एकता हो रही है-यही स्वरूपाचरण चारित्र है व यही परम निश्चय सामायिक है, यही धर्मध्यान तथा शुक्ल-ध्यान है तथा इसीसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। अतएव साधकको उचित है कि व्यवहार चारित्रके सहारेसे निश्चय चारित्रके पानेका अभ्यास करे। यही अभ्यास अब भी अतीन्द्रियका भोग कराता है तथा भविष्यमें भी निजानन्द पानेकी योग्यता बढ़ाता है।

श्री पद्मनंदिस्वामीने एकत्त्वसप्ततिमें इसी एकाग्रताका ही माहात्म्य वर्णन किया है। श्री मुनिराज कहते हैं-

**यदेव चैतन्यमहं तदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।**
**तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्गतोस्मि भावेन तदेकतां परं ॥७८॥**

भावार्थ-जो कोई चैतन्य है वही मैं हूं, वही जानता है, वही देखता है, वही एक उत्कृष्ट आत्मा निश्चयसे है इसलिये मैं उसीके साथ एकीभावपनेको प्राप्त हुआ हूं।

उत्थानिका-आगे इसी ही स्वसमय रूप तत्त्वको अन्य प्रकारसे प्रगट करते हैं-

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ॥ १६७ ॥

चरितं चरति स्वकं स यः परद्रव्यात्मभावरहितात्मा।
दर्शनज्ञानविकल्पमविकल्पं चरत्यात्मनः ॥ १६७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जो) जो (परदव्वप्पभावरहिदप्पा) परद्रव्योंमें आत्मापनेके भावसे रहित होकर (दंसणणाणवियप्पं) दर्शन और ज्ञानके भेदको (अप्पादो) अपने आत्मासे (अवियप्पं) अभिन्न या एकरूप (चरदि) आचरण करता है (सो) वही (सगं चरियं) स्वचारित्रको (चरदि) आचरण करता है।

विशेषार्थ-जो योगी पांचों इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा रूप ममताभावको आदि ले सर्व विकल्प जालोंसे रहित होकर ममत्वके कारण सर्व बाहरी परद्रव्योंमें अपनापना, उपादेयबुद्धि, आलंबनबुद्धि या ध्येयबुद्धिको छोड़ देता है तथा जो पहले विकल्प सहित अवस्थामें ऐसा ध्याता था कि मैं ज्ञाता हूं तथा दृष्टा हूं, अब निर्विकल्पसमाधिके समयमें अनंतज्ञान व अनंत आनंद आदि गुण और स्वभावमई आत्मासे उन ज्ञानदर्शन विकल्पको एक रूप करके अनुभव करता है सो ही महात्मा जीवनमरण, लाभ अलाभ, सुखदुःख, निन्दा प्रशंसा आदिमें समताभावके अनुकूल वीतराग सदा आनन्दमई अपने आत्मामें अनुभव रूप आत्मीक चारित्रका पालनेवाला होता है।

भावार्थ-यहां भी आचार्यने शुद्ध स्वचारित्रका स्वरूप बताया

है। आत्माको अभेदरूपसे अनुभव करना ही स्वचारित्र है, जहां यह भी विकल्प नहीं होते हैं कि मैं हूं या नहीं, मैं एक हूं या अनेक हूं, मैं नित्य हूं या अनित्य हूं। मैं ज्ञान स्वरूप हूं, मैं दर्शन स्वरूप हूं, मैं आनन्द स्वरूप हूं, मैं वीतराग हूं इत्यादि भेदरूप भावना जहां है वहां स्वचारित्रमें जानेकी तय्यारी मात्र है—स्वचारित्र नहीं है। स्वचारित्र वही है जहां निराकुलरूपसे निज आत्माकी शुद्ध परिणतिमें थिरतारूप भाव है। वास्तवमें यथार्थ मोक्षमार्गका भाव निक्षेपरूपसे वहीं लाभ होता है जहां आत्माके स्वभावमें तल्लीनता प्राप्त होती है।

ऐसा जानकर जो स्वात्मानंदके भोगी हैं उनका कर्तव्य है कि वे सर्व प्रकारसे ग्रहण करने योग्य एक अपने आत्माका ही आनन्द लेकर सन्तोष प्राप्त करें—ज्ञानी स्वात्मानुभवकी प्राप्तिके लिये इस प्रकार आत्माका चिंतवन करते हैं जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वसप्ततिमें कहा है—

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः।
मनः कल्पनयाप्येतद्धीनमानंदमंदिरं ॥ ५२ ॥
अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्।
संबंधोपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जो कोई भी शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं वही मैं हूं इसमें कोई संशय नहीं है। मेरा स्वरूप मनकी कल्पनासे बाहर है तथा परमानन्दका मंदिर है, मैं एक चैतन्यमय ही हूं, मैं कभी भी और कोई नहीं हूं ऐसा ही मेरा दृढ़ पक्ष है।

इस तरह निर्विकल्प स्वसंवेदन रूप स्वसमयका ही पुनः विशेष व्याख्यान करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे यद्यपि पहले जीवादि नव पदार्थोंकी पीठिकाके व्याख्यानमें "सम्मत्तं णाणजुदं" इत्यादि व्यवहार मोक्षमार्गका व्याख्यान किया गया तथापि निश्चय मोक्षमार्गका यह व्यवहारमार्ग साधक है ऐसा बतानेके लिये फिर भी कहते हैं–

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६८॥

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमङ्गपूर्वगतं।
चेष्टा तपसि चर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥ १६८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(धम्मादी) धर्म आदि छः द्रव्योंका (सद्दहणं) श्रद्धान करना (सम्मत्तं) सम्यक्त है। (अंगपुव्वगदं) ग्यारह अंग तथा चौदहपूर्वका जानना (णाणं) सम्यग्ज्ञान है। (तवंहि) तपमें (चिट्ठा) उद्योग करना (चरिया) चारित्र है (ववहारो मोक्खमग्गोत्ति) यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ–वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए जीव आदि पदार्थोंके सम्बन्धमें भले प्रकार श्रद्धान करना तथा जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियोंमें समान होते हैं परन्तु साधु तपस्वियोंका चारित्र आचार सार आदि चारित्र ग्रंथोंमें कहे हुए मार्गके अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त छठे सातवें गुणस्थानके योग्य पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति व छः आवश्यक आदि रूप होता है। गृहस्थोंका चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्रमें कही हुई रीतिके अनुसार पंचम गुणस्थानके योग्य दान, शील, पूजा या उपवास आदि रूप या दर्शन, व्रत आदि ग्यारह स्थानरूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्गका लक्षण है। यह व्यवहार

मोक्षमार्ग अपने और दूसरे परिणमनके आश्रय है–इसमें साधन और साध्य भिन्न२ होते हैं, इसका ज्ञान व्यवहारनयके आश्रयसे होता है। जैसे सुवर्णपाषाणमेंसे सुवर्ण निकालनेके लिये अग्नि बाहरी साधक है तैसे यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका बाहरी साधक है–जो भव्य जीव निश्चयनयके द्वारा भिन्न साधन और साध्यको छोड़कर स्वयं ही अपने शुद्ध आत्मतत्वके भले प्रकार श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभवरूप अनुष्टानमें परिणमन करता है वह निश्चयमोक्षमार्गका आश्रय करनेवाला है। उसके लिये भी यह व्यवहार मोक्षमार्ग बाहरी साधक है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने व्यवहारमोक्षमार्गको इसी लिये बताया है कि जो निश्चय मोक्षमार्गको प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु ऐसी भूमिमें ठहरे हुए हैं जहांपर अशुभ कार्योंके व मोहके बादल बहुत तीव्र आरहे हैं कि जिससे उनकी दृष्टि निश्चयमोक्षमार्गपर जम ही नहीं सक्ती है उन जीवोंको निश्चय मार्गपर लाने व अशुभ मार्ग या संसार मार्गकी भूमिकासे हटानेके लिये व्यवहार मोक्षमार्ग हस्तावलंबन रूप है–इसके सहारेसे निश्चय मोक्षमार्गका लाभ एक साधकको होसक्ता है। शुद्ध आत्मारूप मेरा स्वभाव निश्चयसे है इसी बातका ज्ञान व श्रद्धान प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जीवादि सात तत्त्वोंका ज्ञान श्रद्धान हो। आश्रव व बंध तत्त्वसे जीवके अशुद्ध होनेके कारण व संवर व निर्जरा तत्त्वसे जीवके शुद्ध होनेके उपाय विदित होते हैं। मोक्षसे अपनी शुद्ध अवस्थाका ज्ञान होता है। इस तरह भेदरूप पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करनेसे जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम होता

हैं तब आत्माका यथार्थ श्रद्धान होता है । यही निश्चय सम्यग्दर्शन है व तब ही ज्ञान भी निश्चय सम्यग्ज्ञान कहलाता है। गृहस्थ व मुनि दोनोंको यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समान हो सक्ते हैं परन्तु चारित्रमें भेद है-मुनिका चारित्र पंच महाव्रतरूप है जहां अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्यागका पूर्णतया पालन है जहां सर्व ग्रहारम्भका त्याग है, जहां एकांत निर्जन स्थानोंमें निवास है-यह सब व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र जो अपने स्वरूपमें आचरणरूप है उसका इसीलिये वाहरी साधन होजाता है कि इस व्यवहारचारित्रसे मनके संकल्प विकल्प हटते हैं और उपयोग निराकुल होकर अपने आत्माके ध्यानमें तल्लीन होजाता है। गृहस्थ श्रावक पूजा दान सामायिकादि व उपवासादि व ग्यारह प्रतिमा रूपसे जो अपने२ योग्य व्यवहारचारित्र पालते हैं उसका भी हेतु निश्चयचारित्रका लाभ है । गृहस्थजन पूजा सामायिकादिके द्वारा परमात्माके गुणोंका विचार करते हुए यकायक स्वात्मानुभवमें जब तल्लीन होजाते हैं तब निश्चयचारित्रका लाभ पालेते हैं।

निश्चयमोक्षमार्ग आत्माके भावमें लवलीनता रूप है इसके लाभमें जो जो वाहरी उपाय सहकारी हों वे सब ही व्यवहार मोक्षमार्ग हैं-जो अपना हित करना चाहें उनको उचित है कि व्यवहारको सहारा देनेवाला जानकर जबतक निश्चयमार्गमें दृढ़तासे वरावर जमना न हो तबतक इस व्यवहार मार्गरूपी सेवककी सहायता लेना नहीं त्यागे-यही वह रक्षक है जो विषय कषायरूपी चोरोंके आक्रमणोंसे बचाता है, तथापि साधकको अपना लक्ष्य विंदु निश्चय मोक्षमार्गको ही बनाना योग्य है क्योंकि साक्षात् मोक्षका व आन-

न्दका उपाय यही है-ऐसी ही प्रार्थना मुनि पद्मनंदिने की है-

वातव्याससमुद्रवारलहरीसंघातवत्सर्व्वदा ।
सर्वत्र क्षणभंगुरं जगदिदं संचित्य चेतो मम ॥
संप्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारस्थिते ।
स्थातुं वांछति निर्विकारपरमानंदे त्वयि ब्रह्मणि ॥१७॥

भावार्थ-जैसे समुद्रमें पवनके कारण निरन्तर लहरें उठतीं और नष्ट होती हैं ऐसे ही यह जगत सर्व तरहसे क्षणभंगुर है। ऐसा विचार कर मेरा चित्त अब यही चाहता है कि वह संसार सम्बंधी व्यापारोंसे पार होनेवाले निर्विकार परमानंदमई तुझ ब्रह्म स्वरूप आत्मामें ठहर जावे। इस तरह निश्चयमोक्षमार्गके साधक व्यवहार मोक्षमार्गको कहते हुए पांचवें स्थलमें गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे यद्यपि पहले स्वसमयके व्याख्यानके कालमें "जो सव्वसंगमुक्को" इत्यादि दो गाथाओंके द्वारा निश्चयमोक्ष-मार्गका व्याख्यान किया था तथापि यह निश्चयमार्ग इसके पहली गाथामें कहे हुए व्यवहारमोक्षमार्गके द्वारा साधने योग्य है इस प्रतीतिके लिये फिर भी उपदेश करते हैं—

**णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।**
**ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥**

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिस्तैः समाहितः खलु यः आत्मा ।
न करोति किंचिदप्यन्यं न मुञ्चति स मोक्षमार्ग इति ॥ १६९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( जो अप्पा ) जो आत्मा (हु) वास्तवमें (तेहिं) उन (तिहि) तीनोंसे एकताको प्राप्त करता हुआ (किंचिवि अण्णं) कुछ भी अन्य कामको (ण कुणदि) नहीं करता है (ण मुयदि) न कुछ छोड़ता है (सो) वह आत्मा ( मोक्खमग्गोत्ति)

मोक्षमार्ग है ऐसा (णिच्चयणयेण) निश्चयनयसे (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ—जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे एकाग्र होकर अपने आत्मीक भावके सिवाय क्रोधादि भावोंको नहीं करता है और न आत्माके आश्रयमें रहनेवाले अनंतज्ञान आदि गुणसमूहको त्यागता है वही निश्चयमोक्षमार्ग स्वरूप है। अपने ही शुद्ध आत्माकी रुचि निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसी हीका ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है तथा उसी ही शुद्ध आत्माका निश्चल अनुभव सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंकी एकता निश्चय मोक्षमार्ग है—इसीका साधक व्यवहार मोक्षमार्ग है जो किसी अपेक्षा अनुभवमें आनेवाले अज्ञानकी वासनाके विलय होनेसे भेद रत्नत्रय स्वरूप है। इस व्यवहार मोक्षमार्गका साधन करता हुआ गुणस्थानोंके चढ़नेके क्रमसे जब यह आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मीक द्रव्यकी भावनासे उत्पन्न, नित्य आनन्द स्वरूप सुखामृत रसके आस्वादसे तृप्तिरूप परम कलाका अनुभव करनेके द्वारा अपने ही शुद्धात्माके आश्रित निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई हो एक रूपसे परिणमन करता है तब निश्चयनयसे भिन्न साध्य और भिन्न साधक भावके अभावसे यह आत्मा ही मोक्षमार्गरूप होजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुवर्ण-पाषाणके लिये अग्निकी तरह निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गमें साध्य और साधकभाव भलेप्रकार सम्भव है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने निश्चयमोक्षमार्गका कथन करते हुए उसे व्यवहार मोक्षमार्ग द्वारा साधने योग्य बताया है। प्रथम अवस्थामें व्यवहारका आलम्बन आवश्यक है। इसीके द्वारा

अज्ञानवासित मार्गसे अपनी रक्षा करता हुआ तथा निश्चयमोक्ष-मार्गपर लक्ष्य रखता हुआ यह आत्मा उन्नति करता चला जाता है । आत्मतत्वका विचार अनात्मासे भिन्न करते हुए जब इसका उपयोग ऐसी स्थितिको पहुंच जाता है कि ग्रहण या त्यागके विकल्पसे छूट जाता है—मात्र शुद्ध आत्माको भावश्रुत ज्ञानके द्वारा श्रद्धान तथा ज्ञानपूर्वक ग्रहण करलेता है अर्थात् आप अपने वीतरागभावमें ऐसा जम जाता है कि सिवाय निजात्मीक परिणतिके और किसी रागद्वेषादि परिणतिको नहीं करता है अर्थात् जहां निज आत्मामें रमणरूप स्वात्मानुभूति दशा प्राप्त होजाती है वही अवस्था निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप है । इसी समय साम्यभावका झलकाव होता है। जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने सद्बोधचंद्रोदयमें कहा है—

चित्स्वरूपपद्लीनमानसो यः सदा किल योगिनायकः ।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको दर्शनीय इति चात्मसन्निभः॥४३॥

भावार्थ—जिसका मन चैतन्यके स्वरूप रूपी पदमें लीन है वह सदा योगियोंका गुरु है वह सर्व चेतन्यमई जीवराशि अपने आत्माके समान निश्चयनयसे देखने योग्य है । इसी दृष्टिसे समता जाग्रत होती है ।

उत्थानिका—आगे अभेदनयसे यह आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र स्वरूप है ऐसा कहते हुए पहले कहे हुए मोक्षमार्गको ही दृढ़ करते हैं—

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥१७०॥

यश्चरति जानाति पश्यति आत्मानमात्मनानन्यमयं ।
स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमिति निश्चितो भवति ॥ १७० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो) जो कोई (अप्पणा) अपने आत्माके द्वारा ( अणण्णमयं ) आत्मा रूप ही ( अप्पाणं ) अपने आत्माको (पिच्छदि) श्रद्धान करता है, (णादि) जानता है, (चरदि) आचरता है (सो) यह (णिच्छिदो) निश्चयसे ( दंसणं णाणं चारित्तं इदि होदि ) सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्ररूप हो जाता है।

विशेषार्थ-जो कोई वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करता हुआ अपने अंतरात्मपनेके भावसे मिथ्यात्व व रागादिभावोंसे रहित व केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंसे एकतारूप अपने शुद्ध आत्माको सत्ता मात्र दर्शनरूपसे निर्विकल्प होकर देखता है या विपरीत अभिप्राय रहित शुद्धातमाकी रुचिरूप परिणतिसे श्रद्धान करता है, विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा उसे रागादिसे भिन्न जानता है तथा उसीमें तन्मय होकर अनुभव करता है वही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है। इस सूत्रमें अभेदनयकी अपेक्षासे आत्माको ही सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र तीन रूप कहा है। इससे जाना जाता है कि जैसे द्राख आदि वस्तुओंसे वना हुआ शरवत अनेक वस्तुओंका होकर भी एकरूप कहलाता है वैसे ही अभेदकी अपेक्षासे एक निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जीवके स्वभावमें निश्चल आचरणरूप ही मोक्षमार्ग है यह भाव है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थमें इस आत्माधीन निश्चय रत्नत्रयका लक्षण कहा है:-

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥

भावार्थ-आत्मामें रुचि सम्यग्दर्शन है-उसीके ज्ञानको सम्य-

ज्ञान कहा है तथा उसी आत्मामें ही स्थिरता पाना चारित्र है। यही मोक्षका कारण योगाभ्यास है।

भावार्थ–इस गाथामें भी निश्चय रत्नत्रयकी दृढ़ताको बताया है। वास्तवमें जैसा साध्य होता है वैसा ही साधन होता है–साध्य आत्माकी शुद्ध अवस्था है तब साधन उसी शुद्ध आत्माका श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव है। यद्यपि भेदनयसे तीनरूप है तथापि भेदनयसे वह एक रूप है अर्थात् आत्म स्वभावमई है। जैसे शरबत कई वस्तुओंका बना होता है तथापि एक पानक नामसे कहा जाता है वैसे ही निश्चय रत्नत्रयमई आत्मा एक रूपसे कहा जाता है–जैसे शरबत पीनेवालेको सर्व वस्तुका मिश्रित स्वाद आता है जो उसमें मिली हुई हैं उसी तरह जो एकाग्र मन हो आत्माका ध्यान करता है उसे रत्नत्रयमई मोक्षमार्गका लाभ होता है। इसलिये जो इस जीवनमें ही आत्मानन्द लेना चाहें और परलोकमें भी आत्माको सुखी रखना चाहें उनके लिये उचित है कि वे सर्व प्रपंचजालसे मन हटाकर एक आत्मानुभवका ही यत्न करें। श्री पद्मनंदि मुनिने सद्वोध चन्द्रोदयमें कहा है–

निश्चयावगस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परमात्मनि।
योगदृष्टिविषयी भवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि॥३०॥

भावार्थ–यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र तीन रत्नोंकी संगति है तथापि जब शुद्ध आत्मामें ध्यानकी एकता होजाती है तब वहां एक ही रूप रह जाती है अर्थात् आत्मानुभवमें रत्नत्रयके भेद भी नहीं रहते हैं।

इस तरह मोक्षमार्गके वर्णनकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे यह दिखलाते हैं कि जिसका श्रद्धान स्वाभाविक सुखमें है वही सम्यग्दृष्टी है—

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि ॥१७१॥

येन विजानाति सर्वं पश्यति स तेन सौख्यमनुभवति।
इति तज्जानाति भव्योऽभव्यसत्त्वो न श्रद्धत्ते ॥ १७१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(सो) वह आत्मा (जेण) जिस केवलज्ञानसे (सव्वं) सबको (विजाणदि) विशेषपने जानता है (पेच्छदि) देखता है (तेण) तिसहीसे (सोक्खम्) सुखको (अणुहवदि) भोगता है (भविओ) भव्य जीव (तं) उस सुखको (इदि) उसी प्रकार (जाणदि) जान लेता है (अभव्वसत्तो) अभव्य जीव (ण) नहीं (सद्दहदि) श्रद्धान करता है।

विशेषार्थ-यह जीव लोक अलोकको प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानसे संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित तीन लोकके तीन कालवर्ती वस्तुसमूहको जानता है तथा लोकालोक प्रकाशक केवलदर्शनसे सत्ता मात्र उन सबको एक साथ देखता है तथा उन्हीं केवलज्ञान, केवलदर्शनके द्वारा इन दोनोंसे अभिन्न सुखको निरंतर अनुभव करता है। जो इस तरहके अनन्त सुखको ग्रहण करने योग्य श्रद्धान करता है तथा अपने२ गुणस्थानके अनुसार उसका अनुभव करता है वही भव्य जीव है। अभव्य जीवको ऐसा श्रद्धान नहीं होता है। मिथ्यादर्शन आदि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम वा क्षयसे सम्यग्दृष्टी भव्य जीव चारित्रमोहके उपशम या क्षयोपशमके अनुसार यद्यपि अपने२ गुणस्थानके अनुकूल विषयोंसे

सुखको त्यागने योग्य समझकर भी भोगता है तथापि अपने शुद्ध आत्माकी भावनासे पैदा होनेवाले अतींद्रिय सुखको ही उपादेय या ग्रहण योग्य मानता है—अभव्य ऐसा नहीं मानता है - कारण इसका यही है कि उसके पूर्वमें कहे प्रमाण दर्शनमोह तथा चारित्रमोहका उपशम आदिका होना संभव नहीं है। इसीलिये उसको अभव्य कहते हैं यह भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने सर्वज्ञ कथित सिद्धांतका निरूपण किया है कि सर्वज्ञके ज्ञानमें जो जीव अभव्य झलके हैं उनके ऐसा गाढ़ मिथ्यात्व कर्मका उदय है कि उनको सम्यग्दर्शनका होना संभव नहीं है—ऐसे अभव्यको परमात्माके अनुभवमें आनेवाले अनन्त अतींद्रिय सुखका श्रद्धान नहीं होता है किंतु भव्य जीवको ऐसा श्रद्धान उस समय होजाता है जब सम्यक्तके रोकनेवाले कर्म उपशम, क्षय, या क्षयोपशम रूप होजाते हैं। ऐसा सम्यक्ती जीव जितनी२ कषायकी मंदता बढ़ाता है और वीतराग होता जाता है उतना२ अधिक अपने स्वरूपमें आचरण करता हुआ स्वानुभवका लाभ करता है। उसके श्रद्धानमें अतींद्रिय सुख ही सुख भासता है। वह इंद्रिय सुखको अयोग्य समझता है तथापि पूर्व संस्कारसे जबतक गृहस्थमें ठहरने लायक कषायको दबा नहीं पाता है तबतक न्याययुक्त विषयभोग भी करता है परन्तु उनकी इच्छाको राग समझकर उसकी आकुलता मेटनेको इंद्रियोंका भोग करता है। भावना यह रखता है कि इनकी इच्छा कब मिटे और मैं कब निश्चित होकर मात्र स्वात्मानुभवका ही लाभ लिया करूं। तात्पर्य यह है कि हमको अपनेको भव्य समझकर व सच्चे सुखका

विश्वास लाकर उसकी प्राप्तिका यत्न करना योग्य है।

जैसा श्रीपद्मनंदि मुनिने निश्चयपंचाशत्‌में कहा है—

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखंडपरात्मनो रूपं।
तत्त्रयतत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिनको भलेप्रकार आत्मीक सुख तथा ज्ञानका श्रद्धान है उनको रत्नत्रय एक अखण्ड परमात्माका स्वभाव ही भासता है। जो इन तीनोंमें तत्पर होजाता है वही उस आत्माकी प्राप्तिसे कृतकृत्य या कृतार्थ होजाता है। इस तरह भव्य तथा अभव्यका स्वरूप कहनेकी मुख्यतासे सातवें स्थलमें गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे यह समर्थन करते हैं कि श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र यदि परद्रव्यके आश्रय सेवन किये जावें तो उनसे बंध होता है, वे ही यदि आत्माके आश्रित सेवन किये जावें तो उनसे मोक्षका लाभ होता है—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि।
साधुभिरिदं भणितं तैस्तु बन्धो वा मोक्षो वा ॥ १७२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(दंसणणाणचरित्ताणि) दर्शन, ज्ञान, चारित्र (मोक्खमग्गोत्ति) मोक्षमार्ग है वे ही (सेविदव्वाणि) सेवने योग्य हैं। (साधूहि) साधुओंने (इदं भणिदं) ऐसा कहा है। (तेहिं दु) इनहीसे (बंधो व) कर्मबंध (वा) या (मोक्खो) मोक्ष होता है।

विशेषार्थ—ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जब शुद्धात्माके आश्रित होते हैं तब मोक्षके कारण होते हैं परन्तु जब ये शुद्धात्माके

सिवाय अन्यके आश्रय होते हैं तब बंधके कारण होते हैं। इसपर दृष्टांत देते हैं—जैसे घृत आदि पदार्थ स्वभावसे ठंढे होनेपर भी अग्निके संयोगसे दाहके कारण होजाते हैं तैसे ही ये रत्नत्रय स्वभावसे मुक्तिके कारण हैं तौभी पंचपरमेष्ठी आदि शुभ द्रव्यके आश्रयमें होनेसे साक्षात् पुण्यबन्धके कारण होते हैं तथा ये ही श्रद्धान ज्ञान चारित्र जब मिथ्यादर्शन तथा विषय और कषायके कारण परद्रव्योंके आश्रयमें होते हैं तब पापबंधके कारण भी होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवके स्वभावमें निश्चल आचरण करना मोक्षमार्ग है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय आत्माके स्वभाव हैं। जैसे पानीका स्वभाव शीतल, निर्मल, तथा मीठा है वैसे आत्माका स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूप है—जैसे मिश्री डालनेसे पानीका स्वभाव कुछ गंदला व अन्य तरहका मीठा होजाता है वैसे शुभोपयोगरूप पंचपरमेष्टीकी भक्ति, दान, पूजा आदि परिणामोंके मिश्रणसे वे ही शुद्ध गुण शुद्धरूप आचरण करते हुए सातावेदनीय आदि पुण्यकर्मके बन्धके कारण होजाते हैं तथा जैसे खारा और गंदला लूण पानीमें मिलानेसे वही पानी मैला और खारा होजाता है जो पीनेवालेको बुरा लगता है वैसे मिथ्यात्व भाव इंद्रिय विषयकी चाह व क्रोधादि कषायके द्वारा अनेक पदार्थोंमें रमा हुआ वह श्रद्धानादि भाव अशुभोपयोग होकर पाप बंधका कारण होजाता है।

इसका भाव यही है कि मोक्षके अनन्त सुखके चाहनेवाले जीवके लिये उचित है कि पाप बंधके कारण उपयोगसे बचकर

जहांतक संभव हो शुद्ध आत्मामें ही श्रद्धा व ज्ञान सहित चर्या करे। यदि उपयोग वीर्यकी कमीसे स्वात्मानुभवमें अधिक न ठहर सके तो उसे श्री पंचपरमेष्ठीकी भक्ति, स्वाध्याय, दान, धर्म गोष्टी व परोपकारादि शुभोपयोगमें लगाकर अशुभसे रोके, तथापि शुभोपयोगको साक्षात् मोक्षका कारण न मानकर उसको परम्परासे मोक्षका कारण व साक्षात् पुण्यबंधका कारण जाने। तात्पर्य यह है कि निश्चयसे आत्माधीन रत्नत्रय ही ग्रहण करनेयोग्य है।

श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वभावनादशकमें कहा है—

चैतन्यैकत्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्धा कथंचित्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः॥ ४॥
मोक्ष एव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः।
संसारेऽ तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तत्र तत्॥ ५॥

भावार्थ—चेतनाके स्वभावमें एकता पाकर अनुभूतिका पाना यद्यपि दुर्लभ है तथापि यही मोक्षको देनेवाली है। इसे जिस तरह बने पाकर इसीका बारबार चिन्तवन करना चाहिये। साक्षात् मोक्ष ही सुखरूप है। मोक्षके चाहनेवालोंको उसहीका साधन करना चाहिये। संसारमें यहां वह सुख नहीं है—यदि कुछ सुख है तो वह मोक्षका सुख नहीं है।

इस तरह शुद्ध रत्नत्रयसे मोक्ष व अशुद्ध रत्नत्रयसे पुण्यबंध होता है ऐसा कहते हुए गाथा पूर्ण हुई।

पीठिका—इसके पीछे सूक्ष्म परसमयका व्याख्यान करनेको पांच गाथाएं हैं। उनमें एक गाथामें उसका सूत्ररूप कथन है फिर तीन गाथाओंमें उसका विस्तार है। फिर एक गाथामें इसीका संकोच कथन है। ऐसे नवमें स्थलमें समुदायपातनिका है।

उत्थानिका—आगे सूक्ष्म परसमयका स्वरूप कहते हैं—

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्ध संपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥१७३॥

अज्ञानात् ज्ञानी यदि मन्यते शुद्धसंप्रयोगात्।
भवतीति भावमोक्षः परसमयरतो भवति जीवः ॥१७३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि) यदि (णाणी) शास्त्रोंको जाननेवानेवाला कोई (अण्णाणादो) अज्ञानभावसे (सुद्ध संपओगादो) शुद्ध आत्माओंकी भक्तिसे (दुक्खमोक्खं) दुःखोंसे मुक्ति (हवदि त्ति भण्णदि) होजाती है ऐसा मानने लगे तो वह (जीवो) जीव (परसमयरदो) पर समय अर्थात् पर पदार्थमें रत (हवदि) है।

विशेषार्थ—जो कोई ज्ञानी होकर भी शुद्धात्माके अनुभवरूप ज्ञानसे विलक्षण अपने अज्ञानभावसे ऐसा श्रद्धान करलेवे कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारी अर्हंतोंमें व उस शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावके आराधन करनेवाले साधुओंमें भक्ति करलेनेसे ही अपने आत्मस्वभावकी भावनासे उत्पन्न अतीन्द्रिय सुखसे प्रतिकूल जो दुःख उससे मुक्ति होजायगी तो वह जीव उसी समयसे परसमय रत होजाता है। यदि कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्माकी भावनारूप परम उपेक्षा संयममें ठहरना चाहता है परन्तु वहां जमनेकी शक्ति न रखनेपर क्रोधादि अशुद्ध परिणामोंसे वचनेके लिये तथा संसारकी स्थिति छेदनेके लिये जब पंचपरमेष्ठीकी गुणस्तवन आदि रूप भक्ति करने लगता है तव वह सूक्ष्म पर पदार्थमें रत होनेके कारणसे सराग सम्यग्दृष्टी होजाता है तथा यदि कोई आत्माकी भावना करनेके लिये समर्थ है तोभी शुभोपयोगरूप भक्ति

आदिके भावसे ही संसारसे मुक्तिका लाभ होता है ऐसा एकान्तसे मानने लगे तब वह सूक्ष्म परसमयरूप परिणामके कारण अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टी होजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानसे जीवका बुरा होता है। कहा है—

केचिदज्ञानतो नष्टाः केचिन्नष्टाः प्रमादतः।
केचिज्ज्ञानावलेपेन केचिन्नष्टैश्च नाशिताः॥

अर्थ—कितने जीव तो अज्ञानसे भ्रष्ट होजाते हैं, कितने प्रमादसे नष्ट होते हैं व कितने ज्ञानके स्पर्श मात्रसे अर्थात् अनुभव रहित ज्ञानसे अपना बुरा करते हैं व कितने जीव उनसे नाश किये जाते हैं जो स्वयं नष्ट भ्रष्ट हैं।

भावार्थ—यहां आचार्यने दिखाया है कि रागका अंश मात्र भी मोक्षमार्गमें बाधक है। वीतराग भाव रूप शुद्धोपयोगके विना संसारसे मुक्तिका होना असंभव है। जो इस अभेद रत्नत्रयको मोक्षमार्ग मानना छोड़कर ऐसा कदाचित् मानने लगे कि अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुकी भक्ति, पूजा, स्तुति आदिसे ही मुक्ति प्राप्त होजायगी उसके लिये आचार्यने कहा है कि वह अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टी है—शुद्ध स्वरूपधारियोंकी भक्ति जितने अंश रागभाव झलकाती है उतने अंश कर्म बंधकी करनेवाली है—जहां भक्त, भक्तियोग्य पात्र तथा भक्ति इसका विकल्प नहीं होता है, जहां ध्यान ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं होता है वहीं स्वानुभव प्रगट होता है तथा वहीं मोक्षमार्ग है। इससे विपरीत मानना मिथ्यात्व है। तात्पर्य यही है कि जिस तरह बने सब संकल्प विकल्प छोड़कर एक अपने शुद्ध आत्मामें ही तन्मय होना योग्य है। ऐसा ही मुनि पद्मनंदिने परमार्थविंशतिमें कहा है—

सद्दग्बोधमयं विहाय परमानंदस्वरूपं परं,
ज्योतिर्नान्यदहं विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि।
कार्ष्ण्ये कृष्णपदार्थसन्निधिवशाज्जाते मणौ स्फाटिके,
यत्तस्मात्पृथगेव सद्वयकृतो लोके विकारो भवेत् ॥८॥

भावार्थ-मैं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई एक उत्कृष्ट ज्ञान ज्योतिरूप हूं, नाना प्रकार उदयरूप कर्मोंके साथ मेरा एकपना हो रहा है तौभी मैं उस ज्ञानज्योतिको छोड़कर अन्यरूप नहीं हूं। स्फटिकमणिमें काले पदार्थके सम्बंधसे कालापना झलकनेपर भी वह स्फटिकमणि उस कालेपनसे भिन्न ही है। कर्म और आत्मा इन दोनोंके सम्बंधसे ही लोकमें विकार प्रगट होते हैं।

उत्थानिका-आगे पूर्वमें कही हुई शुद्धात्माकी भक्तिसे पुण्यबंध होता है ऐसा दिखाकर उससे मुख्यतासे मोक्षका होना निषेध करते हैं-

अरहंतसिद्धचेदिय पवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥१७४॥

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनगणज्ञानभक्तिसम्पन्नः।
बध्नाति पुण्यं बहुशो न तु स कर्मक्षयं करोति ॥ १७४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-( अरहंतसिद्धचेदियपवयणगण-णाणभत्ति संपण्णो) अरहंत भगवान, सिद्ध परमात्मा, उनकी प्रतिमा, जैनसिद्धांत, मुनिसमूह तथा ज्ञानकी भक्ति करनेवाला ( बहुशः ) अधिकतर (पुण्णं) पुण्यकर्मको (बंधदि) बांधता है ( दु ) परन्तु (सो) वह (कम्मक्खयं) कर्मोंका क्षय (ण कुणदि ) नहीं करता है।

विशेषार्थ-यहां यह सूत्रका भाव है कि आस्रव रहित शुद्ध अपने आत्माके अनुभवसे मोक्ष होता है। इस कारण पर वस्तुके आश्रित भावसे मोक्षका निषेध है।

भावार्थ-यहां भी आचार्यने इसी बातको पुष्ट किया है कि भक्ति व स्तुतिसे जो शुभोपयोग होता है उससे बहुत अधिक पुण्य कर्मका बंध होसक्ता है परन्तु उससे कर्मोंका क्षय नहीं होसक्ता है, ऐसा जानकर जो कोई अनन्तसुखका अर्थी हो उसको उचित है कि परिणामोंकी रक्षाके लिये देव, शास्त्र व गुरुकी सेवा करते हुए भी स्वात्मानुभवकी प्राप्तिका यत्न करे-विना आत्माश्रित भावकी थिरताके उत्तम धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं होसक्ता है। ऐसा ही श्री पद्मनंदिमुनिने परमार्थविंशतिमें कहा है-

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे,
सर्व्वं भक्तिपरादयं व्यवहृतो मार्गो स्थितो निश्चयात्।
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तोभवच्चिद्गुण-
स्फारोभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परं ॥ १४ ॥

भावार्थ-मैं ऐसा मानता हूं कि श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी प्रतिमा, गुरु व मुनिजन व शास्त्रादि इन सर्व पदार्थोंकी भक्तिमें लवलीन होनेसे व्यवहारमोक्षमार्गमें स्थिति होती है। निश्चयनयसे प्रगट चैतन्य गुणके विकाशमें बुद्धिका व्यापार करनेवाले मेरेको तो अपनेमें एकताका आश्रय करनेसे एक उत्कृष्ट आत्मतत्त्व ही मोक्षमार्ग भासता है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि शुद्धात्माके लाभ करनेवालेके परद्रव्य ही रुकावट या विघ्न है-

**जस्स हिदये णुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।**
**सो ण विजाणादि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ॥१७५॥**

यस्य हृदयेऽणुमात्रो वा परद्रव्ये विद्यते रागः।
स न विजानीते समयं स्वकस्य सर्वागमधरोऽपि ॥ १७५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जस्स) जिसके (हिदये) हृद-यमें ( परदव्वम्हि ) परद्रव्यके भीतर ( अणुमत्तं वा ) अणुमात्र भी (रागो) राग (विज्जदे) पाया जाता है (सो) वह ( सव्वागमधरोवि ) सर्व शास्त्रोंको जाननेवाला है तौभी (सगन्द समयं) अपने आत्मीक पदार्थको या स्वसमयको (ण विजाणदि) नहीं जानता है।

विशेषार्थ-जिसके मनमें वीतराग परमात्मामें भी वीतरागतासे विपरीत रागभाव पाया जाता है वह अपने ही शुद्ध आत्मामें आच-रणरूप अपने स्वरूपको नहीं जानता है इसलिये पहले ही विष-योंका अनुराग त्यागकर फिर गुणस्थानकी सीढ़ीके क्रमसे रागादिसे रहित अपने शुद्धात्मामें ठहरकर अर्हत् सिद्ध आदिके सम्बंधमें भी रागभावको त्याग देना चाहिये, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-यहां भी आचार्यने इसी बातको पुष्ट किया है कि जहां रागका अंश मात्र भी है वहां स्वचारित्रका यथार्थ लाभ नहीं होसक्ता है। पहली गाथामें जिन पूजनीय पदार्थोंका नाम लिया है उनमें रागभाव होना शुद्ध उपयोगमें बाधक है। जिनके अंतरंगमें यह श्रद्धान हो कि शुभराग कुछ बाधक नहीं है वह अनेक जैन शास्त्रोंके ज्ञाता होकर भी अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टी हैं उन्होंने निश्चय आत्मस्वभावका भेद नहीं पाया है, तथा जो सम्यग्दृष्टी हैं और अपने वीर्यकी कमीसे शुद्धोपयोगमें नहीं रमण कर सक्ते हैं वे भी उस समयतक मुक्ति नहीं पासक्ते जबतक शुद्धोपयोगमें रमण-ताके पात्र न हों। आचार्यका तात्पर्य यहीं दिखानेका है कि विना आत्मतल्लीनताके मोक्षका मार्ग नहीं होता है। वास्तवमें आत्माकी अनुभूति ही शुद्ध होनेकी क्रिया है इसीलिये मुमुक्षु जीवको इस तरह

विचारना चाहिये जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने परमार्थविंशतिमें कहा हैः—

योजानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजे-
त्सोहं नो परमस्ति किंचिदपि मे तत्वं सदेतत्परं।
यच्चान्यत्तदशेषमन्यजनितं क्रोधादिकायादि वा,
श्रुत्वा शास्त्रशतानि संप्रतिमनस्यैतच्छुभं वर्तते॥ ५॥

भावार्थ—जो जाननेवाला है वही देखनेवाला है। वह सदा ही अपने चैतन्य स्वभावको नहीं त्यागता है। वही मैं हूं, दूसरा कोई भी मेरा तत्व नहीं होसक्ता, अन्य सब सदा ही मुझसे भिन्न हैं। मेरे स्वभावसे जो कुछ क्रोध आदि भाव व शरीर आदि पदार्थ हैं वे सब मुझसे अन्य जो पुद्गलकर्म उससे उत्पन्न हुए हैं। सैकड़ो शास्त्रोंको सुनकर अब मेरे मनमें यह शुभ ज्ञान वर्त रहा है।

उत्थानिका—आगे सर्व अनर्थोकी परम्पराका राग ही मूल कारण है ऐसा उपदेश करते हैं—

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥१७६॥

धर्तुं यस्य न शक्यश्चित्तोद्भ्रामं विना त्वात्मानं।
रोधस्तस्य न विद्यते शुभाशुभकृतस्य कर्मणः॥ १७६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दु) तथा (जस्स) जिसका चित्तका भ्रम या चंचलभाव (अप्पाणं विणा) अपनी शुद्ध आत्माकी भावनाके विना (धरिदुं ण सक्कं) रोका नहीं जासक्ता है (तस्स) उसके (सुहासुहकदस्स कम्मस्स) शुभ तथा अशुभ उपयोगसे किये हुए कर्मोंका (रोधो) रुकना (ण विज्जदि) नहीं संभव है।

विशेषार्थ—जो कोई नित्य आनन्दमई एक स्वभावरूप अपने आत्माकी भावना नहीं कर सक्ता है वह माया, मिथ्या, निदान इन

शल्योंको आदि लेकर सर्व विभावरूप बुद्धिके फैलावको रोक नहीं सक्ता है। इस बुद्धिके न रुकनेपर उसके शुभ तथा अशुभ कर्मोंका संवर नहीं होता है। इससे सिद्ध हुआ कि सर्व अनर्थोंकी परम्पराके मूल कारण राग आदि विकल्प ही हैं।

भावार्थ—यहां भी आचार्यने यही दिखलाया है कि विना आत्माकी एकाग्रता प्राप्त हुए कर्मोंका संवर नहीं होसक्ता है। जिसका मन थिर नहीं है किन्तु शुभ या अशुभ विकल्पोंमें भ्रमण कररहा है वह कर्मास्रवसे छूट नहीं सक्ता है। इसलिये आत्मतल्लीनताको ही प्राप्त करना इस जीवका परमहित है। भक्ति, स्तुति, वन्दना, द्रव्य प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रत्याख्यान आदि सर्व शुभ भावबंधके कारण हैं। जहां एक आत्माहीका अनुभव है वहीं शुद्ध वीतरागभाव परमकल्याणकारी है, जो मुक्तिका मार्ग है—अतएव चित्तको रोककर स्वात्मानुभवका ही उद्यम करना योग्य है। यह वहीं संभव है जहां साम्यभावका राज्य है। ऐसा ही श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वसप्ततिमें कहा है—

सर्वविद्भिरसंसारैः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतं ॥ ६३ ॥
साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतो निरोधनं।
शुद्धोपयोग इत्येते भवंत्येकार्थवाचकाः ॥ ६४ ॥
साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतं।
साम्यं सर्वोपदेशाना-मुपदेशो विमुक्तये ॥ ६६ ॥
साम्यं निःशेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः।
साम्यं कर्ममहाकक्ष-दाहि दावानलायते ॥ ६८ ॥

संसारसे दूर सम्यग्ज्ञानलोचनवाले सर्वज्ञोंने मुक्तिकी प्राप्तिका

उपाय मात्र एक समताभावको बताया है । समता, स्वरूपमें लीनता, समाधि, योग, चित्तका निरोध तथा शुद्धोपयोग ये सब एक ही अर्थको बतानेवाले हैं । समता ही एक उत्कृष्ट कार्य है, समता ही परमतत्व कहा गया है । मोक्षके लिये जितने उपदेश हैं उन सबमें सार उपदेश साम्यभावका है । ज्ञानवालोंने सर्व शास्त्रोंका सार साम्यभावको कहा है । यह समताभाव ही कर्मकी महासेनाको जलानेके लिये दावानलके समान है ।

उत्थानिका–मोक्षार्थी पुरुषको उचित है कि आस्रवके कारणभूत रागादि विकल्प जालको जड़मूलसे नाशकर इसीलिये आचार्य सूक्ष्मपरसमयके व्याख्यानको संकोच करते हैं:–

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो ।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥ १७७ ॥

तस्मान्निवृत्तिकामो निस्संगो निर्ममत्वश्च भूत्वा पुनः ।
सिद्धेषु करोति भक्तिं निर्वाणं तेन प्राप्नोति ॥ १७७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(तम्हा) इसलिये (णिव्वुदिकामो) मोक्षका इच्छुक (णिस्संगो) परिग्रहरहित होकर (य) और (णिम्ममो) ममतारहित होकर (पुणो) फिर (सिद्धेसु) सिद्धोंमें (भत्तिं) भक्ति (कुणदि) करता है (तेण) इसी रीतिसे वह (णिव्वाणं) मोक्षको (पप्पोदि) पाता है ।

विशेषार्थ–"अण्णाणादो णाणी" इत्यादि चार गाथाओंके द्वारा रागादि विकल्पजालको आस्रवका कारण बताया है इसलिये जो पुरुष मोक्षका अभिलाषी हो उसको परिग्रहरहित आत्मतत्त्वसे विपरीत बाहरी व भीतरी परिग्रहसे रहित होकर और रागादि

उपाधिसे रहित चैतन्य प्रकाशमई आत्मतत्वसे विपरीत मोहके उदयसे उत्पन्न ममकार और अहंकाररूप विकल्पजालसे रहित होकर सिद्धोंके समान मेरे आत्माके अनंतगुण हैं ऐसा मानकर अपने शुद्ध आत्मीक गुणोंमें परमार्थ स्वसंवेदन रूप सिद्ध भक्ति करनी चाहिये। इसीहीसे शुद्धात्माकी प्राप्ति रूप निर्वाणका लाभ होता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्य कहते हैं कि जब शुभ अशुभ रागका अंश भी मोक्षमार्ग नहीं है तब शुभोपयोग रूप मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये यह उचित है कि अंतरङ्ग बहिरंग सर्व परिग्रहका त्याग किया जावे व सर्व पदार्थोंसे ममता हटाकर निश्चिन्त होकर सिद्धोंके गुणोंका मनन किया जावे तथा अपने आत्माको सिद्धके समान पवित्र अनुभव किया जावे। इसी आराधनके बलसे शुद्धोपयोग या स्वात्मानुभवकी प्राप्ति होगी तथा इसीका सतत अभ्यास रखनेसे इस जीवको मुक्तिका लाभ हो जायगा। अभिप्राय यही है कि स्वात्मस्वरूपमें एकाग्र होना ही जीवका परम हित है।

श्री पद्मनंदि मुनि निश्चयपंचाशत्‌में कहते हैं-

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जड़त्वात् प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी॥४१।
स्वपरविभागावगमे जाते सम्यक्परे परित्यक्ते।
सहजबोधैकरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं शुद्धः॥४२॥

भावार्थ-मैं ही चैतन्य स्वरूप हूं, मुझ चिद्रूपका वहही मैं एक आश्रय हूं और इस चैतन्य सिवाय जड़ हैं सो कोई भी मेरे आश्रय नहीं होसक्ते क्योंकि प्रीति वही कल्याणकारी होती है जो बराबरवालोंमें हो। अपने आत्माका और परका भेद अच्छी तरह समझमें आजानेपर तथा अपने सिवाय दूसरेका त्याग कर देनेपर

यह आत्मा स्वयं शुद्ध स्वरूपका धारी अपने सहज ज्ञानमई एक स्वभावमें ठहर जाता है।

इस तरह सूक्ष्म परसमयके व्याख्यानकी मुख्यतासे नवमें स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे अरहंत आदिकी भक्तिरूप परसमयमें आचरण करनेवाले पुरुषके साक्षात् मोक्षके कारणका अभाव है तो भी यह भक्ति परम्परासे मोक्षका हेतु है ऐसा प्रकाश करते हुए जिसको पहले कह चुके हैं उसी सूक्ष्म परसमयके व्याख्यानको अन्य प्रकारसे कहते हैं–

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ॥ १७८ ॥

सपदार्थं तीर्थंकरमभिगतबुद्धेः सूत्ररोचिनः।
दूरतरं निर्वाणं संयमतपः सम्प्रयुक्तस्य ॥ १७८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(सुत्तरोइस्स) आगमको रोचक हो, ( संजमतवसंपजुत्तस्स ) संयम और तपका अभ्यासी हो परंतु ( सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धेः ) नव पदार्थ सहित तीर्थंकरकी भक्तिमें बुद्धिको लगानेवाला हो उसके ( णिव्वाण ) मोक्ष (दूरतरं) बहुत दूर है।

विशेषार्थ–जो बाहरी इंद्रिय संयम तथा प्राणियोंकी रक्षा रूप प्राण संयमके बलसे रागादि उपाधिसे रहित है, तथा अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ, व उसके मनोरथ रूप विकल्पोंके जालकी अग्निके विना निर्विकल्प चित्त करके संयमके लिये अपने शुद्ध आत्मामें ठहरनेके लिये संयमी मुनि होगया है व अनशनको आदि लेकर अनेक

प्रकार बाहरी तपश्चरणके बलसे व सर्व परद्रव्यकी इच्छाको रोकने रूप आभ्यंतर तपके द्वारा नित्य आनन्दमई एक स्वभावमें तप करता है। तप करते हुए भी जब विशेष संहनन आदि शक्तिके अभावसे निरंतर अपने स्वरूपमें ठहर नहीं सक्ता है तब कभी तो शुद्ध आत्माकी भावनाके अनुकूल जीवादि पदार्थोंके बतानेवाले आगमसे प्रेम करता है कभी जैसे रामचंद्र आदि पुरुप देशान्तरमें गई हुई सीता आदि स्त्रीके निकटसे आए हुए पुरुषोंका दान सन्मान आदि उस अपनी स्त्रीके प्रेमसे करते हैं वैसे मुक्तिरूपी स्त्रीके वश करनेके लिये निर्दोष परमात्मा तीर्थंकर परम देवोंके तथा गणधरदेव व भरत, सगर, राम, पांडवादि महापुरुषोंके चारित्र पुराणादि अशुभ रागसे बचने व शुभ धर्ममें अनुराग भावसे सुनता है तथा गृहस्थ अवस्थामें निश्चय व्यवहार रत्नत्रयकी भावनामें रत आचार्य उपाध्याय साधु आदिकोंकी दान पूजादि करता है। इस कारणसे यद्यपि अनंत संसारकी स्थितिको छेद डालता है तथा यदि चरमशरीरी नहीं है तो उसी जन्मसे सब कर्मोंका क्षय नहीं करसक्ता है तथापि पुण्यके आस्रवके परिणामसहित होनेसे उस भवसे निर्वाणको न पाकर अन्य भवमें देवेन्द्रादि पद पाता है। वहां भी विमान, परिवार आदि विभूतिको तृणके समान गिनता हुआ पांच महाविदेहोंमें जाकर समवशरणमें वीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवानका दर्शन करता है तथा निर्दोप परमात्माके आराधक गणधर देवादिको नमस्कार करता है तब निर्दोप धर्ममें दृढ़ होकर चौथे गुणस्थानके योग्य आत्माकी भावनाको नहीं त्यागता हुआ देवकोकमें काल गमाता है। फिर आयुके अंतमें स्वर्गसे आकर मनुष्यभवमें चक्रवर्ती आदिकी विभू-

तिको पाता है तौभी पूर्वभवोंमें आई हुई शुद्धात्माकी भावनाके बलसे उसमें मोह नहीं करता है फिर विषयसुखको छोड़कर जिन-दीक्षा लेलेता है व निर्विकल्प समाधिकी विधिसे विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप अपने शुद्ध आत्मामें ठहरकर मोक्षको पालेता है, यह भाव है।

भावार्थ-यहां वृत्तिकारने यह दिखलाया है कि जिसकी रुचि शुद्धात्माकी भावनामें होती है उसको उसी भवमें या किसी भवमें निर्वाणका लाभ अवश्य हो जाता है। परन्तु जिसको यह रुचि नहीं है वह कभी निर्वाण नहीं पासक्ता है जैसा मूल गाथामें कहा है-जो संयम व तप करता हो, शास्त्रका रुचिवान हो तथा निरन्तर सविकल्प रूप पदार्थोंका विचार करे व तीर्थंकरादिकी भक्ति करता रहे वह यदि मोक्षकी प्राप्तिके योग्य वीर्य रखता है तौ भी मोक्षको नहीं पा सक्ता है क्योंकि शुभोपयोगसे वह पुण्य-कर्मका बंध कररहा है वह कर्मोंके क्षयके कारण स्वात्मानुभवका लाभ नहीं प्राप्त कर रहा है। अपने आत्माके सिवाय पंचपरमेष्टी आदिमें भी रागी होना पर समयमें प्रवृत्ति करना है जो स्वसमयकी प्रवृत्तिसे विरुद्ध है। अतएव विवेकी जीवको उचित है कि स्वस-मयसे ही कर्मोंका नाश होता है ऐसा श्रद्धान दृढ़ रखके यदि शक्ति व संहनन संयम धारकर व परिग्रह सहनकर तप करनेका हो तो शुभोपयोगमें रागी न होकर शुद्धोपयोगका ही अभ्यास करे-यदि शक्ति न हो तो यथाशक्ति शुद्धात्माकी भावना करे और जब उसमें भाव न लगे तब तीर्थंकरादिमें भक्ति व शास्त्र पाठ आदि शुभ कार्य करे परन्तु इनमें ही संतोष न कर बैठे-ऐसा जीव पुण्य बांधकर

उत्तम गतिमें जाकर भी परम्पराय अवश्य मुक्तिका भाजन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वसमय ही परम कल्याणकारी है–उसीका अभ्यास रखना योग्य है।

श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं—

येऽभ्यासयंति कथयंति विचारयंति ।
संभावयंति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वं ॥
ते मोक्षमक्षयमनूनमनंतसौख्यं ।
क्षिप्रं प्रयांति नवकेवललब्धिरूपं ॥ ८० ॥

भावार्थ–जो वारवार आत्मतत्त्वका अभ्यास करते हैं, उसीका कथन करते हैं, उसीका विचार करते हैं, तथा उसीका ध्यान करते हैं वे शीघ्र ही अनंतज्ञानादि नव केवलब्धिरूप महान व अनंत सुख रूप अविनाशी मोक्षपदको पहुंच जाते हैं।

उत्थानिका–आगे पहले सूत्रमें जो वात कही है कि जो तीर्थंकरादिकी भक्तिमें लीन है वह उसी भवसे मोक्षको नहीं पाता है, मात्र पुण्यवंध ही करता है। इसी ही अर्थको दृढ़ करते हैं–

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥१७९॥

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनभक्तः परेण नियमेन ।
यः करोति तपःकर्म स सुरलोकं समादत्ते ॥ १७९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–( जो ) जो (अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो ) अरहंत, सिद्ध, अर्हत्प्रतिमा व जिनवाणीका भक्त होता हुआ ( परेण ) उत्तम प्रकारसे (तवोकम्मं ) तपके आचरणको (कुणदि) करता है (सो) वह ( णियमेण ) नियमसे (सुरलोगं) देवलोकको (समादियदि) प्राप्त करता है।

विशेषार्थ-इस सुत्रका भाव यह है कि जो कोई शुद्धात्माको ग्रहण करने योग्य मानकर अथवा आगमकी भाषासे मोक्षको ग्रहण योग्य समझकर व्रत व तपश्चरण आदि करता है वह निदान रहित परिणामसे सम्यग्दृष्टि है-उसके यदि योग्य संहनन आदिकी शक्ति न हो तो वह शुद्धात्माके स्वरूपमें ठहरनेको असमर्थ होता हुआ वर्तमान भवमें पुण्यका बंध करता ही है, दूसरे किसी भवमें परमात्माकी भावनाकी स्थिरता होने पर वह नियमसे मुक्त हो जाता है-परंतु जो इसके विपरीत होता है उसको भवान्तरमें भी मोक्ष नहीं हो सकती है ।

भावार्थ-इस गाथामें मुख्य प्रयोजन आचार्यका दिखलानेका यह है कि जो सम्यग्दृष्टी होकर भी तपका साधन करे परंतु अपने शुद्धात्मामें वीतरागताके साथ स्थिरता न प्राप्त करे-अरहंत, सिद्ध, शास्त्र आदिके रागमें अनुरक्त रहे तो वह उस भवसे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सक्ता है-रागका अंश मात्र भी अभेद रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें बाधक है । शुभोपयोगसे वह जीव पुण्य बांधकर स्वर्गमें चला जायगा-मुक्तिका लाभ तब ही होगा जब निर्विकल्पसमाधिका लाभ होगा । ऐसा जानकर मुमुक्षु जीवको एक स्वसमयमें ही तल्लीन होनेका उद्यम रखना योग्य है-आत्मामें स्थिरता ही मुक्तिका कारण है । जब योगी कर्मोंसे भिन्न आत्मामें स्थिर होते हैं तब क्या दशा होती है उसके लिये श्रीपद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमें कहते हैं-

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं ।<br>
पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ॥<br>
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो ।<br>
योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो योगी निर्मलज्ञान नेत्रके द्वारा कर्मोंसे भिन्न अपने आपको अनुभव करते हैं उन परमार्थके ज्ञाता योगीके मनमें कर्मोंसे उत्पन्न किये हुए सुख व दुःखकी कल्पना नहीं होती है। अर्थात् वे समभावमें रमते हुए सुखी रहते हैं।

इसप्रकार जो चरम शरीरी नहीं है उस पुरुषके व्याख्यानकी मुख्यतासे दशवें स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस पंचास्तिकाय प्राभृत-शास्त्रका तात्पर्य वीतरागता ही है—

**तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।**
**सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ॥ १८० ॥**

तस्मान्निर्वृत्तिकामो रागं सर्वत्र करोति मा किञ्चित्।
स तेन वीतरागो भव्यो भवसागरं तरति ॥ १८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(तम्हा) इसलिये (णिव्वुदिकामो) इच्छा रहित होकर जो (सव्वत्थ) सर्व पदार्थोंमें (किंचि) कुछ भी (रागं) राग (मा कुणदि) नहीं करता है (सो भवियो) वह भव्य जीव (तेण) इसी कारणसे (वीदरागो) वीतराग होता हुआ (भवसायरं) संसारसमुद्रको (तरदि) तर जाता है।

विशेषार्थ—क्योंकि इस शास्त्रमें मोक्षमार्गके व्याख्यानके सम्ब-न्धमें मोक्षका मार्ग उपाधि रहित चैतन्यके प्रकाशरूप वीतरागभावको ही दिखलाया है इसलिये केवलज्ञान आदि अनन्तगुणोंकी प्रगटता रूप कार्य समयसारसे कहने योग्य मोक्षका चाहनेवाला भव्यजीव अरहंत आदिमें भी स्वानुभवरूप राग भाव न करें—इस राग रहित चैतन्य ज्योतिमई भावसे वीतरागी होकर वह प्राणी संसारसागरको पार करके अनंतज्ञानादि गुण रूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है। यह

संसार सागर अजर अमर पदसे विपरीत है; जन्म, जरा मरण आदि रूप नानाप्रकार जलचर जीवोंसे भरा हुआ है, वीतराग परमानन्द-मई एक सुख-रसके आस्वादको रोकनेवाले नारकादि दुःख रूप खारे जलसे पूर्ण है, रागादि विकल्पोंसे रहित परम समाधिके नाश करनेवाले पांचों इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छाको आदि लेकर सर्व शुभ तथा अशुभ विकल्प जाल रूप तरंगोंकी मालासे भरपूर है, व जिसके भीतर आकुलता रहित परमार्थ सुखसे विपरीत आकु-लताको पैदा करनेवाली नानाप्रकार मानसिक दुःखरूप वड़वानलकी शिखा जल रही है।

इसतरह पहले कहे प्रकारसे इस प्राभृत शास्त्रका तात्पर्य वीतराग-ता हीको जानना चाहिये। वह वीतरागता निश्चय तथा व्यवहारनयसे साध्य व साधक रूपसे परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षासे ही होती है—विना अपेक्षाके एकान्तसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं होसक्ती है। जिसका भाव यह है कि जो कोई विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमय शुद्ध आत्मतत्त्वके भलेप्रकार श्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गकी अपेक्षा विना केवल शुभ चारित्ररूप व्यवहारनयको ही मोक्षमार्ग मान बैठते हैं वे इस भावसे मात्र देवलोक आदिके क्लेशको भोगते हुए परम्परासे इस संसारमें भ्रमण करते रहते हैं, परन्तु जो ऐसा मानते हैं कि शुद्धात्मानुभूति रूप मोक्षमार्ग है तथा जब उनमें निश्चय मोक्षमार्गके आचरणकी शक्ति नहीं होती है तब निश्चयके साधक शुभ चारित्रको पालते हैं तब वे सराग सम्यग्दृष्टी होते हैं फिर वे परम्परासे मोक्षको पाते हैं। इस तरह व्यवहारके एकांत पक्षको खण्डन करनेकी मुख्य-तासे दो वाक्य कहे गए। तथा जो एकांतसे निश्चयनयका आलंबन

लेते हुए रागादि विकल्पोंसे रहित परम समाधिरूप शुद्धात्माका लाभ न पाते हुए भी तपस्वीके आचरणके योग्य सामायिकादि छः आवश्यक क्रियाके पालनको व श्रावकके आचरणके योग्य दान पूजा आदि क्रियाको खण्डन करते हैं वे निश्चय तथा व्यवहार दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट होते हुए निश्चय तथा व्यवहार आचरणके योग्य अवस्थासे जो भिन्न कोई अवस्था उसको न जानते हुए पापको ही बांधते हैं तथा जो शुद्धात्माके अनुभवरूप निश्चय मोक्षमार्गको तथा उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्गको मानते हैं परन्तु चारित्र-मोहके उदयसे शक्ति न होनेपर यद्यपि शुभ व अशुभ चारित्रसे रहित शुद्धात्माकी भावनाकी अपेक्षा सहित शुभ चारित्रको पालने-वाले पुरुषोंके समान नहीं होते हैं तथापि सरागसम्यक्तको आदि लेकर दान पूजा आदि व्यवहारमें रत ऐसे सम्यग्दृष्टी होते हैं वे परम्परासे मोक्षको पा लेते हैं। इस तरह निश्चयके एकांतको खंडन करते हुए दो वाक्य कहे, इससे यह सिद्ध हुआ कि निश्चय तथा व्यवहार परस्पर साध्य साधक रूपसे माननेयोग्य हैं। इसीके द्वारा रागादि विकल्परहित परमसमाधिके बलसे ही मोक्षको ज्ञानी जीव पाते हैं।

भावार्थ—इस ग्रन्थका सार इस गाथामें कहा है कि वीतरागता ही मोक्षमार्ग है—जो सर्व प्रकारकी इच्छाको छोड़कर मात्र वीतरागी आत्मस्थ होजाते हैं और निरंतर स्वानुभव करते चले जाते हैं वे ही संसारसे पार होजाते हैं। टीकाकारने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है परंतु उसका लाभ व्यवहार रत्नत्रयकी सहायतासे होता है—व्यवहार रत्नत्रय साधक है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है। साधकके लिये

निर्विकल्प समाधिमें तिष्ठना थोड़े काल ही संभव है—यदि अंत-र्मुहूर्त ठहर जावे तो उसको केवलज्ञानकी प्राप्ति होजावे। जिनमें इतनी शक्ति नहीं होती है वे जब स्वानुभवमें नहीं रमण कर सक्के तब उसीके साधक व्यवहारधर्मको करते हैं—शास्त्रपाठ, तत्त्वविचार, जिन स्तुति, वैयावृत्य, धर्मोपदेश आदि कार्योंको करते रहते हैं। यद्यपि इनसे पुण्यबन्ध होता है परन्तु जब उपयोग इन कार्योंमें न लगे तो अशुभ कार्योंमें लग जावे जिससे पापकर्म हीका बंध होवे। इससे यह व्यवहार धर्म अधर्मसे बचाने व शुद्धमें पहुंचानेका एक मध्य आलम्बन रूप मार्ग है—जो बंधका कारण समझकर इस व्यव-हारकी मदद बिलकुल नहीं लेते हैं और निश्चय आत्म—स्वभावमें ठहरनेको असमर्थ हैं वे अशुभ कार्योंमें लीन हो भ्रष्ट हो जाते हैं। अतएव जो निश्चय व्यवहारको परस्पर साध्य साधक समझकर व्यव-हार करते हैं वे ही मुक्तिके पात्र हो जाते हैं—श्री कुन्दकुन्द महा-राजका यही कहना है कि वीतराग आत्म परिणतिमें तिष्ठना ही वह जहाज़ है जिसपर चढ़कर यह जीव भवसागरके पार होसक्ता है अतएव जिस तरह बने इसी जहाज़पर चढ़नेका उद्यम करनायोग्य है।

स्वामी पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमें कहते हैं—

सत्समाधिशशिलांछनोदया-
  दुल्लसत्यमलबोधवारिधिः।
योगिनो नु सदृशं विभाव्यते,
  यत्र मग्नमखिलं चराचरं॥ ३३॥
कर्मशुष्कतृणराशिमुन्नतो-
  प्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदि स्थिते,
  योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत्॥ ३४॥

भावार्थ-उत्तम साम्यभावरूप चंद्रमाके उदयसे निर्मल ज्ञान समुद्र बढ़ जाता है तब योगीके भीतर यह सर्व चर अचर जगत मग्न हुआ अणुके समान प्रगट होजाता है। कर्मोंके ढेर सूखे तृणके ढेरकी तरह निर्मल समाधिकी हवासे बढ़ती हुई आत्मज्ञानकी अग्निसे जो योगीके हृदयमें जलती है शीघ्र भस्म होजाते हैं। इसतरह शास्त्रके तात्पर्यको संकोच करते हुए वाक्य कहा। इसतरह पांच वाक्योंसे कहे हुए भावके विवरणकी मुख्यतासे ग्यारहवें स्थलमें गाथा कही।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव अपनी प्रतिज्ञाको निवाहते हुए ग्रन्थको समाप्त करते हैं—

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥ १८१ ॥

मार्गप्रभावनार्थं प्रवचनभक्तिप्रचोदितेन मया।
भणितं प्रवचनसारं पंचास्तिकायसंग्रहं सूत्रं ॥ ८१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(मया) मुझ कुन्दकुन्दाचार्यने (पवयणभत्तिप्पचोदिदेण) आगमकी भक्तिकी प्रेरणासे (मग्गप्पभावणट्ठं) जिनधर्मकी प्रभावनाके लिये (पवयण सारं) आगमके सारके कहनेवाले (पंचत्थियसंगहं सुत्तं) पंचास्तिकायसंग्रह सूत्रको (भणियं) वर्णन किया है।

विशेषार्थ-मोक्षका मार्ग वास्तवमें संसार, शरीर व भोगोंसे वैराग्य रूप है अथवा निर्मल आत्मानुभव रूप है, उसकी प्रभावना यह है कि उसे स्वयं अनुभव करे तथा दूसरोंको प्रकाश करे। ऐसी मोक्षमार्गकी भावनाके लिये मैंने परमागमकी भक्तिसे प्रेरित

होकर इस पंचास्तिकाय नामके शास्त्रको कहा है जिसमें पांच अस्तिकाय व छः द्रव्य आदिका संक्षेपसे व्याख्यान करके समस्त वस्तुको प्रकाश किया गया है, इसीलिये यह ग्रन्थ द्वादशांग रूप आगमका सार है।

भावार्थ—यहां श्रीकुंदकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं कि जिन-धर्मका रहस्य जो शुद्ध स्वात्मानुभव है उसका ज्ञान भव्य जीवोंको प्राप्त होजावे इसी भावको धारण करके मैंने इस ग्रन्थको लिखा है जिसमें प्रयोजनभूत तत्वोंका वर्णन आगया है। जिन आगमकी भक्ति ही मुझे इस काममें प्रेरक हुई है। मैंने और किसी ख्याति, लाभ व पूजादिकी चाहसे ग्रन्थकी रचना नहीं की है। जिस हेतुसे यह ग्रन्थ रचा गया है उस ही हेतुको भव्य जीव सार्थक करें—यह आचार्यका अभिप्राय है—अर्थात् इसे पढ़कर छः द्रव्य और नव पदार्थोंका स्वरूप जानें तथा अपने आत्माके तत्वको भलेप्रकार पहचानें और उद्यम करके स्वात्मानुभव करें, क्योंकि आत्मामें श्रद्धा व ज्ञानपूर्वक चर्या करना ही मोक्षमार्ग है। यही परमानन्दको देने-वाला है, कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला है तथा आत्माके अनंतबलको प्रकाश करनेवाला है। ऐसा ही जिनवाणीमें हरएक परोपकारी आचार्यने कहा है—

श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं:—

**अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधिविवर्जितं ।**
**आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥**
**स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते ।**
**स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥ १९ ॥**

भावार्थ—जो कोई सर्व उपाधिसे रहित एक उत्कृष्ट, परम

शांत, व जन्म रहित आत्माको आत्माके द्वारा जानकर आत्मामें ही स्थिर होजाता है वही मोक्षमार्गमें चलनेवाला है तथा वही मोक्षके अमृतको भोगता है, वही अरहंत, तीन जगतका नाथ व वही प्रभु ईश्वर होजाता है ।

इसतरह ग्रन्थको समाप्त करते हुए बारहवें स्थलमें गाथा कही।

यहां तीसरा महा अधिकार पूर्ण हुआ । अब यहां वृत्तिकार कहते हैं कि यह पंचास्तिकाय प्राभृतग्रन्थ संक्षेप रुचिधारी शिष्यको समझानेके लिये कहा गया है । जिस समय जो शिक्षा ग्रहण करता है उस समय उसको शिष्य कहते हैं इसलिये शिष्यका लक्षण कहनेके प्रयोजनसे परमात्माके आराधन करनेवाले पुरुषोंकी दीक्षा या शिक्षाकी अवस्थाके भेद कहते हैं । दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषणकाल, आत्मसंस्कारकाल, सल्लेखनाकाल, उत्तमार्थकाल इसतरह छः प्रकारके काल होते हैं, उन्हींको कहते हैं—

१—जिस समय कोई भी निकट भव्यजीव निश्चय व व्यवहार रत्नत्रयके धारी आचार्यके पास जाकर आराधनाके लिये बाहरी व भीतरी परिग्रहका त्याग करके जिनदीक्षा ग्रहण करता है वह दीक्षाकाल है ।

२—दीक्षाके पीछे निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके तथा परमात्म स्वरूपके विशेष ज्ञानके लिये उनके समझानेवाले अध्यात्म शास्त्रोंकी जब शिक्षा ग्रहण करता है वह शिक्षा काल है ।

३—शिक्षाके पीछे निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें ठहरकर मोक्षमार्गके अर्थी भव्य प्राणियोंको जब परमात्म तत्त्वका उपदेश देकर पुष्ट करता है तब गणपोषणकाल है ।

४–गण पोषणके पीछे जब अपने गण या संघको त्यागकर अपने परमात्म स्वभावमें शुद्ध संस्कार करता है अर्थात् स्वभावमें रमण करता है वह आत्मसंस्कार काल है।

५–आत्म संस्कारके पीछे उसी हीके लिये क्रोध आदि कषायोंसे रहित व अनन्तज्ञान आदि लक्षण सहित परमात्म पदार्थमें ठहरकर रागादि भावोंको भलेप्रकार कम करनेवाली भाव सल्लेखना है इसलिये कायको क्लेश देकर कायको कृश करना सो द्रव्य सल्लेखना है। इन दोनोंके आचरणका जो काल है वह सल्लेखना काल है।

६–सल्लेखनाके पीछे विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप आत्म-द्रव्यका भलेप्रकार श्रद्धान, ज्ञान तथा उसीमें आचरण व बाहरी द्रव्योंमें इच्छाका निरोध रूप तपश्चरण इसप्रकार चार तरहकी आ-राधना करना सो चरमशरीरीके उसी भवसे मोक्षके लिये है तथा जो चरम शरीरी नहीं है उसके अन्यभवमें मोक्षकी योग्यताके लिये है सो उत्तमार्थ काल है।

इन छः कालोंके मध्यमें कोई पहले कालमें, कोई दूसरे कालमें कोई तीसरे काल आदिमें केवलज्ञानको उत्पन्न करलेते हैं। छहों कालोंके होनेका नियम नहीं है।

अथवा ध्यानके आठ अंग हैं–

"ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यत्र यस्य यदा यथा।
इत्यष्टांगानि योगानां साधनानि भवंति च॥

अर्थात्–ध्यान करनेवाला, ध्यान, किसका ध्यान किया जावे, ध्यानका फल, कहां ध्यान करना, कब ध्यान करना, किस विधिसे ध्यान करना तथा यस्यका अर्थ आसन समझमें आता है। विशेष ज्ञानी सुधार लें। इसका संक्षेप व्याख्यान यह है–

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथा स्थितं।
एकाग्रचिंतनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरे ॥

अर्थात् इंद्रिय और मनको वश रखनेवाला ध्याता होता है। वस्तुका यथार्थ स्वरूप ध्यान करने योग्य है, एकको मुख्य करके चिन्तवन करना ध्यान है–ध्यानका फल कर्मोंका संवर होना तथा निर्जरा होना है। इत्यादि कथन तत्वानुशासन नामके ध्यान ग्रन्थमें कहा गया है। वहां जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेदसे तीन प्रकार ध्याता व तीन ही प्रकार ध्यान कहा गया है। इसका भी कारण वहीं कहा है कि ध्यान करनेकी सामग्री जो द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव है सो भी तीन प्रकार है।

अथवा अति संक्षेपसे ध्यान करनेवाले तीनप्रकारके होते हैं–एक तो शुद्ध आत्माकी भावनाको प्रारंभ करनेवाले, दूसरे सूक्ष्म विकल्प सहित अवस्थामें रहनेवाले प्रारब्ध योगी कहे जाते हैं। विकल्प रहित शुद्ध आत्माकी अवस्थामें रहनेवाले निष्पन्न योगी होते हैं। इस तरह संक्षेपसे अध्यात्म भाषासे ध्याता, ध्यान, ध्येय व ध्यानके फल जानने चाहिये। वे फल संवर तथा निर्जरासे साधे जानेवाले रागादि विकल्प रहित परमानन्दमई सुखकी वृद्धि होना व निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी उन्नति होना व बुद्धि आदि सात प्रकार ऋद्धियोंकी प्राप्ति होना है।

अन्य ग्रन्थोंमें भी ध्याता तीन प्रकार बताए हैं। जैसे शिष्य प्रारम्भकर्ता, अभ्यासकर्ता व निष्पन्नयोगी, उनका भी वर्णन इसी कथनमें यथासंभव अन्तर्भूत जानना चाहिये। अब आगमकी भाषासे छः काल कहे जाते हैं–

१–जब कोई सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि चार प्रकार आराधनाके सन्मुख होकर पंच आचारके पालक आचार्यके पास जाकर, अंतरंग बहिरंग परिग्रहको छोड़कर जिन दीक्षा लेता है वह दीक्षाकाल है।

२–दीक्षाके पीछे चार प्रकार आराधनाके विशेष ज्ञान करनेके लिये व आचरणकी आराधनाके लिये चारित्रके सहायक ग्रन्थोंकी जब शिक्षा लेता है तब शिक्षाकाल है।

३–शिक्षाके पीछे आचरणके सहकारी कथनके अनुसार स्वयं पाल करके व उसका व्याख्यान करके पांच प्रकारकी भावना सहित होकर जब शिष्यगणोंको पुष्ट करता है तब गणपोषणकाल है।

भावनाएं पांच तरहकी होती हैं–तप, श्रुत, सत्त्व, एकत्त्व और संतोष—

१–अनशन आदि बारह प्रकार निर्मल तप करना सो तपो भावना है–इस भावनाके फलसे विषय तथा कषायका विजय होता है।

२–प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग इन चार प्रकारके आगमका अभ्यास करना सो श्रुतभावना है। त्रेशठ-शलाका पुरुषोंके पुराणोंका व्याख्यान सो प्रथमानुयोग है, उपासका-ध्ययन व आचार आराधना आदिके ग्रन्थोंके द्वारा देशचारित्र व सकलचारित्रका व्याख्यान सो चरणानुयोग कहा जाता है, जिनांतर, त्रिलोकसार, लोक विभाग आदिके द्वारा लोकका कथन करना सो करणानुयोग है, प्राभृत अर्थात् समयप्राभृत आदि व तत्वार्थसूत्र आदि सिद्धांत ग्रन्थोंके द्वारा जीवादि छः द्रव्योंका व सप्ततत्त्वादिका व्याख्यान करना द्रव्यानुयोग है। इस शास्त्रकी भावनाका फल यह कि जीवादि तत्त्वोंके सम्बंधमें या हेय या उपादेय तत्त्वके सम्बं-

धर्में संशय, विमोह, विभ्रम रहित निश्चल परिणाम होता है । इस शास्त्रकी भावनाका फल अन्य ग्रन्थमें कहा है ।

"आत्महितोस्था भावस्य संवरो नवनवश्च संवेगः ।
निःकंपता तपोभावना परस्योपदेशनं ज्ञातुः ॥

भावार्थ–जो शास्त्रका ज्ञाता होता है उसको छः लाभ होते हैं (१) आत्महितमें श्रद्धा जमती है ( २ ) आश्रव भावका संवर होता है ( ३ ) नवीन नवीन धर्मानुराग बढ़ता है ( ४ ) कंपरहित परिणाम होता है (५) तप साधनकी भावना होती है (६) परको उपदेश देसक्ता है ।

३–मूलगुण व उत्तरगुणोंके पालनके सम्बन्धमें भयरहित वर्तन करना सो सत्वभावना है । इसका फल यह है कि घोर उपसर्ग व परीषहके पड़नेपर भी निर्भय होकर उत्साह पूर्वक मोक्षका साधन पांडवों आदिकी तरह होता है ।

४–अपने आत्माको एक रूप अकेला विचार करना सो एकत्वभावना है जैसा इस गाथामें कहा है–

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

भावार्थ–मेरा आत्मा एक अकेला, अविनाशी, ज्ञानदर्शन लक्षणका धारी है । इसके सिवाय जितने सर्व भाव परके संयोगसे होते हैं वे मुझसे बाहरके भाव हैं ।

इस एकत्वभावनाका फल यह है कि स्वजन तथा परजनोंमें मोह न रहे, जैसा कहा है–

भगिनीं विडंबमानां यथा विलोक्यैकभावनाचतुरः ।
जिनकल्पितो न मूढः क्षपकोपि तथा न मुह्येत ॥

भावार्थ–जो एक तरफ भावनामें चतुर होता है वह अपने बहिनकी विडंवनाको देखकर भी मोह नहीं करता है वैसे जिनकल्पी साधु भी मोह नहीं करता है।

५–मान तथा अपमानमें समताभावके वलसे भोजनपान आदिमें जो लाभ हो उसमें संतोष रखना सो संतोषभावना है। इसका फल यह है कि रागादिक उपाधिसे रहित परमानंदमई आत्मीक सुखमें तृप्ति पानेसे निदान बंध आदि विषयोंके सुखसे चित्तका हट जाना।

४–गणपोषणके पीछे आत्माकी भावनाके संस्कारको चाहनेवाला अपने गणको छोड़कर दूसरे गण या मुनिसंघमें जाकर रहता है सो आत्मसंस्कार काल है।

५–आत्मसंस्कारके पीछे आचारकी आराधना ग्रन्थमें कहे प्रमाण द्रव्य तथा भाव सल्लेखना करता है वह सल्लेखनाकाल है।

६–सल्लेखनाके पीछे चार प्रकार आराधनाकी भावनाके द्वारा समाधिकी विधिसे कालको पूर्ण करता है सो उत्तमार्थकाल है।

यहां भी कोई प्रथमकाल आदिमें ही चार प्रकार आराधनाको प्राप्त करलेते हैं, छः कालका नियम नहीं है। यहां यह भावार्थ है कि नीचे लिखी गाथाके प्रमाण जहां आगमका सार लेकर निश्चय रत्नत्रयकी भावनाके अनुकूल अर्थ व पदोंसे व्याख्यान किया जाता है वह अध्यात्मशास्त्र कहा जाता है–

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥

भावार्थ–मेरे ज्ञानमें आत्मा है–मेरे दर्शन व चारित्रमें

आत्मा है, प्रत्याख्यान तथा त्यागमें भी आत्मा है—अर्थात् जहां आत्मामें स्थिति है वहां ये सब कुछ हैं।

अध्यात्म शास्त्रके आश्रित छः कालोंका वर्णन पहले ही संक्षेपसे किया गया है। जहां वीतराग सर्वज्ञद्वारा कहे हुए छः द्रव्य आदिका भलेप्रकार श्रद्धान, ज्ञान व आचरणरूप भेद या व्यवहार रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन किया जाय वह आगमशास्त्र कहलाता है। यह कथन निश्चय रत्नत्रयमई आध्यात्मिक आचरणका बाहरी साधन होता है—इसके आश्रित भी छः काल संक्षेपसे कहे गए। विशेष जानना हो तो छः कालोंका व्याख्यान दोनों ही आगम व अध्यात्म रूपसे पूर्व आचार्योंके कहे हुए क्रमानुसार अन्य ग्रन्थोंसे जानना योग्य है।

इस तरह श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिमें पहले एकसे एकसौ ग्यारह गाथाओंके द्वारा आठ अंतर अधिकारोंसे पांच अस्तिकाय व छः द्रव्यको कहनेवाला प्रथम महाअधिकार कहा गया। उसके पीछे पचास गाथाओंके द्वारा दश अंतर अधिकारोंसे नव पदार्थोंको कहनेवाला दूसरा महाअधिकार कहा गया। फिर बीस गाथाओंके द्वारा बारह स्थलोंसे मोक्षस्वरूप व मोक्षमार्गको कहनेवाला तीसरा महाअधिकार कहा गया। इस तरह तीन अधिकारोंसे एकसौ इक्यासी गाथाओंमें पंचास्तिकाय प्राभृत समाप्त हुआ।

स० नोट—प्रथम भाग १११ गाथाओंका पहले प्रकाशित हो चुका है। अब यह दूसरा भाग नवपदार्थ दर्पण ७० गाथाओंका लिखा गया है।

# इस द्वितीय भाग नवपदार्थदर्पणका सार।

इस पुस्तकका प्रारंभ दूसरे महाअधिकारसे है। इसमें पहले ही आचार्यने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। फिर सम्यक्तके विषयभूत नौ पदार्थोंके नाम गिनाए हैं। फिर इनका स्वरूप प्रारंभ किया है—जीव पदार्थको कहते हुए एकेंद्रियसे पंचेंद्रियपर्यंत संसारी जीवोंके भेद बताए हैं तथा कहा है कि निश्चयनयसे जीव ज्ञानस्वरूप है। पुद्गलकर्मके उदयसे एकेंद्रिय आदि शरीर जीवोंके बनते हैं, उनकी अवस्था सहित होनेके कारण जीवोंको व्यवहारनयसे एकेंद्रिय आदि कहा है। फिर यह बताया है कि जब जीव इंद्रियोंसे प्रगट नहीं होता है तब कौन पदार्थ सजीव है व कौन पदार्थ निर्जीव है इसका पता कैसे लगाया जावे, इसके उत्तरमें वे विशेष चिह्न बताए हैं जो सजीव पदार्थोंमें पाए जाते हैं व निर्जीव पदार्थोंमें नहीं पाए जाते हैं—वे चिह्न ये हैं कि संसारी जीव देखते जानते हैं, सुखको चाहते हैं, दुःखसे डरते हैं, हित या अहित करते हैं और उनका सुख दुःखरूप फल भोगते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालमें ये सब बातें नहीं पाई जाती हैं इसीसे ये सब अजीव पदार्थमें गर्भित हैं। फिर यह बताया है कि जीव और पुद्गलके संयोगसे ही अनादिसे यह जीव कर्मोंके उदयके असरसे राग द्वेष करता है उससे फिर कर्म बांधता है जिससे चारों गतियोंमें भ्रमण करता रहता है। जिस गतिमें जाता है वहां पदार्थोंको ग्रहणकर फिर राग द्वेष करता है इससे कर्म बांधता है। इसतरह यह जीव अनादिसे संसारमें चक्कर लगा रहा है। कोई पुण्यात्मा जीव धर्मका लाभ प्राप्त

कर कर्मोंका क्षय करके मुक्त होजाता है फिर पुण्य व पाप पदार्थोंका स्वरूप कहते हुए बताया है कि ये पुण्य या पाप कर्म पुद्गल जड़, मूर्तीक है क्योंकि इनका फल मूर्तीक है। मूर्तीक शरीरके द्वारा ही इनका फल होता है। जीव अनादिसे कर्मोंसे बंधा है। पुराने बंधके कारणसे नया कर्मबंध होता रहता है-बंध पुद्गलका पुद्गलसे ही होता है, जीव बीचमें उनको अवगाह किये हुए है, इसीसे रागी द्वेषी होता हुआ कर्मफल भोगता है और कर्म बांधता रहता है। आस्रव पदार्थका स्वरूप कहते हुए बताया है कि पुण्यकर्मका आस्रव शुभरागसे व अनुकम्पा भावसे व चित्तकी उज्वलतासे होता है। पंचपरमेष्ठीकी भक्तिमें व धर्मके आचरणमें शुभ राग होता है; भूखे, प्यासे, रोगी, दुःखी जीवोंपर दयाभाव करके यथाशक्ति दुःख मेटनेको अनुकम्पा कहते हैं। क्रोधादि कषायोंके मंद रखनेसे चित्त मलीन नहीं होता है किन्तु उज्वल रहता है। फिर पापकर्मके आस्रवके कारण बताए हैं कि प्रमादसहित आचरण करना, इंद्रियोंके विषयोंमें अति लोलुपता रखना, दूसरोंको क्लेशित करना व दूसरोंकी निन्दा करनी; आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञामें फंसे रहना, आर्त्त व रौद्रध्यान करना, अपनी बुद्धिसे दुःखदाई उपाय करना। फिर संवर पदार्थको कहते हुए वर्णन किया है कि सर्व पदार्थोंमें राग, द्वेष, मोह छोड़ना चाहिये-शुद्धोपयोगीके ही संवर पदार्थका लाभ होता है। फिर निर्जरा पदार्थको कहते हुए दिखलाया है कि तप करना निर्जराका कारण है। उसमें मुख्य तप आत्मध्यान है। बंध पदार्थको कहते हुए बंधका कारण रागद्वेष, मोह बताया है तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व मन, वचन, काय योगोंको बंधका मुख्य हेतु

झलकाया है। इनहींसे आठों प्रकारके कर्मोंका बंध होता है। फिर मोक्षका स्वरूप बताया है कि संवर व निर्जराके कारणसे यह आत्मा जब सर्व कर्मोंसे छूटकर अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुखमई शुद्ध होजाता है वही मोक्ष है। इस तरह मोक्ष पदार्थको सामान्यरीतिसे कह करके फिर तीसरे अधिकारमें उसीका विशेष स्वरूप बताया है कि मोक्ष जीवका निजस्वभाव है। फिर निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग बताया है कि वह स्व समयरूप है। अर्थात् जहां आत्मा आस्रव और बंधके कारण पर पदार्थमें रमणसे विरक्त होजाता है और एक-चित्त हो आप आपमें समताभावसे रमण करता है वही स्वसमय रूप निश्चय मोक्षमार्ग है—इस निश्चय मार्गका सहकारी व्यवहार मोक्षमार्ग है। यह व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयका सहकारी है। जो साधु सर्व परिग्रहसे विरक्त होकर व्यवहार मार्गके आलम्बनसे निश्चयमोक्ष-मार्गरूप स्वचरित्रमें ठहर जाता है वही मोक्षका साधनेवाला है। फिर यह बताया है कि जो भव्य जीव यह श्रद्धान करता है कि मोक्ष आत्माका स्वभाव है तथा वह परमानंद स्वरूप है वही स्वयं मोक्षमार्गी होजाता है।

मोक्षमार्गमें किंचित् भी परपदार्थसे रागको निषेध किया गया है। यहांतक कि जो कोई पांच परमेष्टीमें भक्ति करता है वह भी मोक्षके अति निकट मार्गसे दूर है। भक्तवंत पुरुष पुण्य बांधकर भविष्यमें मोक्षका साक्षात् मार्ग पासक्ता है परन्तु उस समय तो वह मोक्षमार्गसे दूर है। जहां बिलकुल साम्यभाव होता है वहीं निश्चय-मोक्षमार्ग है। आचार्यने बताया है कि श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र ही बंध तथा मोक्षके मार्ग हैं। यदि संसार सम्बन्धी मिथ्या श्रद्धान,

ज्ञान, चारित्र हैं तब वे बंधके कारण हैं और जो वे मोक्ष सम्बन्धी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र हैं तब वे मोक्षके कारण हैं। श्रद्धावान भी यदि चारित्रके मार्गमें शुभोपयोगरूप है तब वह पुण्यकर्मको बांधकर स्वर्गादि स्थानोंको प्राप्त करता है। जब श्रद्धावान शुद्ध उपयोगमें रमेगा तब ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा कर सकेगा। निर्वाणका वही लाभ करेगा जो बिलकुल ममता, भक्ति व राग छोड़कर एक निज आत्माके ही रमणीक स्वतंत्र व पवित्र बागमें क्रीड़ा करेगा। तात्पर्य यही निकाला गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो वीतरागता है वही पूर्ण वीतराग होनेका साधन है। यह वीतरागता श्रुतज्ञानके आलम्बनसे शुद्ध आत्मीकभावमें स्वानुभव प्राप्त करनेसे प्रगट होती है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य परम दयालु होकर इस ग्रन्थमें भव्य जीवोंको वह मार्ग बताते हैं जिससे यह दुःखी प्राणी इस वर्तमान जीवनमें भी सुखशांति पावे तथा आगामी भी सुखशांतिका भोक्ता बना रहे। स्वानुभव एक ऐसी मीठी अमृतमई औषधि है कि जिससे पीनेवालेको उसी समय आनन्दका लाभ होता, आत्मामें पुष्टि आती कर्मविकार शमन होते तथा भविष्यमें परम अनुपम मोक्षका धारावाही आनंद अनन्तकालके लिये प्राप्त होजाता। जो सुख व शांतिको चाहनेवाले हैं उनको उचित है कि वे अध्यात्मका मनन करते रहें और श्री कुन्दकुंद महाराजके वचनोंमें श्रद्धा रखकर वर्तन करें—उनका जीवन बाहरी कष्टके साधन रहते हुए भी सुखपूर्ण और संतोषी होजायगा, वे मुक्तिके भावको आपमें स्वयं पाने लगेंगे, उनके भीतर त्यागभावका अंकुर जम जायगा, वे स्वयं त्यागी होते हुए परम धामके मार्गपर चढ़ते चले जांयगे।

भव्य जीव इस ग्रन्थको वारवार स्वाध्याय करके सुखशांति पावें यही हमारी मंगलकामना है ।
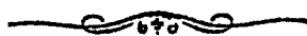
## भाषाकारका संक्षिप्त परिचय ।

दोहा ।

अग्रवंश शुभ गोत्र है, गोयल जन्म विचार ।<br>
मक्खनलाल पिता तनो, पुत्र तृतिय अवधार ॥ १ ॥<br>
लक्ष्मणपुर ही जन्म है, किया वास तहं आय ।<br>
संवत त्यासी उन्निसा, वर्षाकाल सुहाय ॥ २ ॥<br>
अड़तालीस उमर धरे, श्रावक व्रत तल्लीन ।<br>
सीतल सुखुदधि नामको, धारक हूं मतिहीन ॥ ३ ॥<br>
धर्मज्ञान प्रेमी वड़े, अजितप्रसाद वकील ।<br>
अजिताश्रम डेरा किया, पठन ग्रन्थ दे ढील ॥ ४ ॥<br>
जुगमन्धरके लालने, उल्था इंग्लिश कीन ।<br>
गोमटसारादिकनि तिन, मुद्रणमें चित दीन ॥ ५ ॥<br>
शोधत अजितप्रसादजी, छपत मेस नवलेश ।<br>
इंग्लिश ज्ञाता जन वहुत, जानें धर्म जिनेश ॥ ६ ॥<br>
अतसर पाय स्वज्ञानको, मनन अर्थ सुखकार ।<br>
पंचास्तिकाय टीका लिखी, जयसेन वृत्ति विचार ॥ ७ ॥<br>
नगर जिनालय छः लसें, सप्तम अजितप्रसाद ।<br>
निज घर चैत्यालय किया, धर्म बढ़न मर्याद ॥ ८ ॥

मुन्नेलाल सुकागजी, नगर द्वार दरम्यान ।
जिन गृह शाला धर्म शुभ, बनवावत अघहान ॥ ९ ॥
शत गृह जैन दिगम्बरी, लगे स्वयं व्यवसाय ।
साधत तीनों वर्गको, जिनमत श्रद्धा लाय ॥ १० ॥
फतहचंद हैं जौहरी, देवीदास कुटुम्ब ।
संभव शिषर सुहान हैं, धरत धर्म आलम्ब ॥ ११ ॥
गोविन्दपरसाद हैं, रिषभचंद सु उदार ।
बनवारी नेमचंद हैं, संतलाल गुणकार ॥ १२ ॥
हैं दुर्गापरसादजी, और कन्हैयालाल ।
राधेलाल बनारसी, सुधी बरातीलाल ॥ १३ ॥
नेमचंद दानी रिषभ, दास सु दुर्गादास ।
श्यामबिहारीलाल हैं, सुगनचंद जिनदास ॥ १४ ॥
लाल चिरंजी जेठमल, हरषचंद सोनपाल ।
माणक गोकुलचंद हैं, दो वकील जिनमाल ॥ १५ ॥
इत्यादिक साधर्मि सह, बीतो काल अदोष ।
महिमा श्री जिनधर्मकी, है अनुपम गुणकोष ॥ १६ ॥
मगसिर बदि आठम दिना, वार शनी सुखकार ।
ग्रंथ सुपूरण यह किया, मंगलीक हरवार ॥ १७ ॥
सन उन्निस छब्बीस है, मास नवम्बर जान ।
सप्तवीस निशके समय, ग्रंथ हुओ अवसान ॥ १८ ॥
मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान ।
आचारज उवझाय मुनि, नमूं चरण हिय आन ॥ १९ ॥

॥ इति ॥ ता० २७-११-२६